THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

७७१८SA.

संघी मोतीलाल मास्टर

जैनधर्ममें दैव और पुरुषार्थ।

लेखक—

श्री० ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी।

प्रकाशक—

मूलचन्द किसनदास कापडिया,

मालिक दिगम्बरजैनपुस्तकालय—सूरत।

"जैनमित्र" के ४२ वें वर्षका उपहारग्रन्थ।

वीर सं० २४६८

मूल्य—बारह आने।

क्रम विषय	पृष्ठ
३४–गोत्रकर्मके बधके विशेष भाव	६६
३५–अंतरायकर्मके बधके विशेष भाव	६६
३६–पाप पुण्य भेद	६७
३७–लेश्या	६८
३८–आठ कर्मोंके उत्तरभेद	६९
३९–पुण्य पाप प्रकृति	७६
४०–चार प्रकारका बन्ध	७८
४१–आबाधाकालका नियम	८१
४२–चौदह गुणस्थान	८४
४३–गुणस्थानोंमे प्रकृतिबध	८८
४४–गुणस्थानोंमे अबन्ध, बध-व्युच्छित्ति	९१
४५–कर्मोका उदय	१०३
४६–गुणस्थानके उदयस्थान	१०९
४७–कर्मोकी सत्ता अथवा उनका सत्व	१२१
४८–आठों कर्मोकी उत्तर प्रकृतियोंकी सत्ता	१२३

अध्याय चौथा।

पुरुपार्थका स्वभाव और कार्य।

४९–पुरुषार्थ द्वारा सचित कर्ममे परिवर्तन	१३१
५०–जीवोंके पाच प्रकारके भाव व भेद प्रभेद	१३४
५१–पारणामिक भाव	१४१

अध्याय पांचवां।

धर्म पुरुपार्थ।

५२–धर्म पुरुषार्थकी मुख्यता	१४२
५३–साधुका व्यवहार धर्म	१४२
५४–गृहस्थ धर्म	१४३
५५–बारह व्रत	१४९
५६–ग्यारह प्रतिमाएं	१५६

अध्याय छठा।

अर्थ पुरुषार्थ।

५७–अर्थ पुरुषार्थ कैसे करे	१५९
५८–उद्यमके छ• प्रकार	१५९

अध्याय सातवां।

काम पुरुपार्थ।

५९–पाचो इद्रियोंके विषयोंका उपयोग किस प्रकार करे	१६३

अध्याय आठवां।

मोक्ष पुरुपार्थ।

६०–सिद्ध अवस्थाका स्वरूप	१६७

\+ + +

शुद्ध करके पढ़ें—

इस पुस्तकमें पृ० लाईन २१ मे Lifeless Bodies or Dead Bodies की जगह पर Living Bodies पढ़ें।

श्रीवीतरागाय नमः ।

जैनधर्ममें दैव और पुरुषार्थ

अध्याय पहला ।

दैव व पुरुषार्थकी आवश्यक्ता ।

मंगलाचरण ।

वीतराग विज्ञान मय, परमानन्द स्वभाव ।
नमहुं सिद्ध परमात्मा, त्याग ममत्व विभाव ॥ १ ॥
परम धर्म पुरुषार्थमें, साथ मोक्ष पुरुषार्थ ।
अविनाशी कृतकृत्यको, ध्याऊं कर पुरुषार्थ ॥ २ ॥
कर्म-दैवकी सैन्यको, धर्म खड्गसे चूर ।
सिद्ध किया निज कार्यको, नमहुं होय अघ दूर ॥ ३ ॥

जगतमें दैव और पुरुषार्थ दोनों प्रसिद्ध है। दैवको भाग्य, अदृष्ट, कर्मका फल, किस्मत, करणी, तकदीर, fate फेट, आदि नामोंसे कहते हैं। और पुरुषार्थको उद्योग, प्रयत्न, तदबीर, परिश्रम, उत्साह, कोशिश आदि नामोंसे पुकारते हैं।

जब कोई किसी कामको सिद्ध कर लेता है तब पुरुषार्थकी दुहाई दी जाती है। जब कोई काम बिगड जाता है या विघ्न आ जाता है तब दैवको याद किया जाता है। दोनों बातें जगतमें प्रचलित हैं। इन दोनों बातोंकी आवश्यक्ता तब ही होगी जब दोनों बातें सिद्ध हों।

जो लोग केवल जडवादी हैं, जो जाननेवाले आत्माको जडसे

गया है परन्तु ज्ञान उसको वालपन तकका है । हम एक काल एक ही इन्द्रियसे जानते हैं परन्तु हमको पांचों इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त ज्ञानकी धारणा वनी रहती है । यदि केवल जडसे जानना होता तो जाननेके पीछे ज्ञानका सचय नहीं रहता । कारण व कार्यका लम्बा विचार ज्ञानी आत्मा ही कर सक्ता है । एक बालकको भी अनुभव है कि मैं हाथसे छूकर, जबानसे चाखकर, नाकसे सूंघकर, आखसे देखकर, कानसे सुनकर जानता हू, शरीरादि द्वार हैं वे नहीं जानते हैं, मैं ही कोई जाननेवाला हू जो आख नाक आदिसे जानता हू । आत्मा हरएकके अनुभवमें खूब आ रहा है । किसी भी मुर्दा या जड पदार्थमें अनुभव या वेदना feeling नहीं होती, किंतु सचेतन पदार्थमें होती है । क्योंकि जाननेवाला आत्मा शरीरमें है । आत्मा कभी मरता नहीं, शरीर वदलता है । नए पैदा हुए बालकको वहुतसा पहला संस्कार होता है । गर्भसे बाहर निकले हुए बालकको भूखकी वेदना होती है, वह रोता है, दूध मिलनेपर संतोषी होजाता है । यदि उसे कोई सतावे मारे तो दुःखी होता है, क्रोधमें भरजाता है । उसमें लोभ व क्रोध झलकते हैं वह पुराना ही संस्कार है । किसीने उसे सिखाया नहीं । शरीरमें आनेके पहले वह कहीं और शरीरमें अवश्य था । पूर्व जन्मके संस्कारवश एक स्कूलमें पढ़नेवाले बालक व एक ही माताके उदरसे निकले बालक कोई तीव्र बुद्धि रखते हैं कोई मन्द, कोई थोडे कालमें वहुत याद करलेते हैं कोईको वहुत कालमें भी याद नहीं होता है । मूर्ख माता पिताओंकी संतान बुद्धिमान व विद्वान वन जाती है व विद्वान माता पिताकी संतान मूर्ख देखनेमें आती है । यह नियम नहीं है कि मूर्ख माता पिताकी

संतानें मूर्ख हों व विद्वान माता पिताकी संताने विद्वान हों। क्योंकि हरएक जीव अपने २ भिन्न २ संस्कारको लिये हुए जन्मता है। पूर्व जन्मके संस्कार वश कोई बुद्धिमान बालक एक दफे पढकर या देखकर याद कर लेते हैं, कोई २ बालक ऐसे सुने गए हैं जो बिना पढाए संस्कृत, पाली बोलते हैं. व गणित करते है, जरासा निमित्त पानेपर शीघ्र ही बहुतसे बालक अच्छे शिक्षित होजाते हैं जैसे प्रवीण गवैये, शिल्पकार, चित्रकार आदि। इसमें कारण पूर्व जन्मका संस्कार ही है। कविगण बहुधा संस्कारित ही होते है। आत्माकी सत्ता जडसे भिन्न माने विना पूर्वके संस्कार नहीं पाये जा सक्ते हैं। किन्हीं २ बालकोंको पूर्व जन्मकी वार्तोका स्मरण भी होना सुना जाता है। यह भी सुननेमें आता है कि कोई व्यंतर देव किसी मानवको प्रगट होकर कहता है कि हम पहले जन्ममें अमुक मानव थे। बडी बात विचारनेकी यह है कि जड वस्तुओंमें चेतनशक्ति बिलकुल प्रगट नहीं है। अचेतनता भलेप्रकार सिद्ध है. तब उनके द्वारा ऐसी शक्ति पैदा हो जावे जो उनके मूल स्वरूपमें नहीं है यह बात न्यायमार्गसे विपरीत है। हरएक कार्य अपने मूल कारण या उपादान कारणके अनुसार होता है, जैसे मिट्टीसे मिट्टीके वर्तन, सोनेसे सोनेके गहने, लोहेसे लोहेके वर्तन बनते हैं. मिट्टीसे चादीके वर्तन नही बन सक्ते तथा जैसे गुण मूल पदार्थमें रहते हैं वैसे ही गुण उसके बने काममें प्रगट होते है। यदि जडमें आत्मा बनता तो जडमें चेतनपना प्रगट होना चाहिये था। सो किसी भी तरह नहीं दिखता है। इसलिये जो लोग जडसे अलग किसी अजर अमर चेतनताधारी पदार्थको मानते है उनकी बात

भावार्थ—प्रोफेसर विलियम मैकडोंगल अपनी पुस्तक—"फीजिओलजिकल सैकोलोजी" में लिखते हैं—हमको मजबूर होकर मानना पड़ता है कि अन्त करणके कार्य किसी एक पदार्थके कुछ काम हैं। यह पदार्थ मगज़का कोई भाग नहीं है न यह कोई जड पदार्थ है। किन्तु यह सब जड पदार्थोंसे जुदा है। उसे हम एक अमूर्तीक पदार्थ या जीव मान सकते है।

हरएक आत्मा भिन्न२ है।

जहांतक बुद्धिसे विचार किया जाता है जडसे भिन्न चेतन शक्तिका मानना जरूरी व ठीक जंचता है। केवल जडसे चेतन शक्तिका काम नहीं हो सक्ता है। चेतन शक्ति हरएक शरीरधारी प्राणीमें स्वतंत्र व भिन्न२ है या एक किसी ईश्वर या ब्रह्मका अंश है। इस बातपर विचार किया जावे तो यही समझमें आता है कि हरएक चेतन शक्तिधारी आत्माकी सत्ता भिन्न२ है। क्योंकि एक ही कालमें जगतकी आत्माओंमें भिन्न२ भाव या कार्य देखे जाते हैं।

कोई शांत है तो कोई क्रोधी है, कोई अज्ञानी है तो कोई ज्ञानी है, कोई भक्ति करता है, कोई व्यापार करता है, कोई जागता है, कोई सोता है, कोई विद्या पढ़ता है. कोई विद्या पढ़ाता है, कोई जन्मता है, कोई प्राण त्यागता है, कोई सुखी है, कोई दुखी है. कोई रोता है, कोई हंसता है। यदि एक ही ईश्वर या ब्रह्मके अंश हों तो सब एकरूप रहने चाहिये। यदि ईश्वर शुद्ध व निर्विकार है तो सब प्राणी शुद्ध व निर्विकार रहने चाहिये। यदि ईश्वर अशुद्ध है व विकारी है तो सब अशुद्ध व विकारी रहने चाहिये। यदि

ईश्वर शुद्ध है परन्तु उसका अंश जडसे मिलकर अशुद्ध व विकारी हो जाता है तो ईश्वरके अंशमें विकार होनेसे ईश्वर अवश्य विकारी हो जायगा व उसे विकारका फल भोगना पडेगा। ईश्वर एक अमूर्तीक पदार्थ है इसमें उसके खण्ड नहीं हो सक्ते। खण्ड या टुकडे जड मूर्तीक पदार्थके ही हो सक्ते हैं जो परमाणुओंके बन्धसे बनते हैं। ईश्वर परम शुद्ध निर्विकार ही हो सक्ता है. उसमें स्वयं कोई इच्छा किसी काम करनेकी व किसीको बनानेकी व विगाडनेकी नहीं हो सक्ती है. न वह किसीके साथ रागद्वेष करता है. वह समदर्शी है. वह जडमें अपना अंश भेजे यह कल्पना नहीं हो सक्ती है। स्वयं शुद्धसे अशुद्ध बने यह बात संभव नहीं है। इसलिये यही बात ठीक है कि हरएक शरीरमें भिन्न २ आत्मा है।

लोक जड़ चेतनका समूह है व अनादि है।

यह लोक जड और चेतन पदार्थोंका अमिट समुदाय है। इसके भीतर सर्व ही पदार्थ सत् हैं, सदा ही बने रहते हैं। मूलसे न बनते हैं न विगडते हैं। केवल अवस्थाएं ही बदलती हैं। इसलिये यह लोक भी सत् है, अनादि अनंत है, मात्र अवस्थाओंके बदलनेकी अपेक्षा एकसा नहीं रहता है।

देव क्या है।

आत्मा हरएक शरीरमें भिन्न २ हैं तौभी एकसे नहीं विदित होते हैं। उनके अंतरंग स्वभावमें विचित्रता है उनके बाहरी संयोगमें विचित्रता है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये विकारी या अशुद्ध भाव या दोष हैं, क्योंकि इनके होनेपर शान्तभाव नहीं रहता है तथा साधारणतया सर्व जगत

सूक्ष्म कार्मण शरीर। है। उसमेंसे पुराने कार्मण स्कंध गिरते रहते हैं व नए मिलते रहते हैं। जगतमें कार्मण वर्गणाएं भरी हुई हैं। उनको संसारी आत्माएं अपने मन, वचन, कायके हलनचलनसे रागद्वेष मोह अशुद्ध भावोंके द्वारा संचय करते रहते हैं। जब अच्छे भाव होते हैं तब पुण्य कर्मोंका संचय होता है जब बुरे भाव होते हैं तब पाप कर्मोंका संचय होता है। जैसे चुम्बक पाषाण लोहेको घसीट लेता है वैसे आत्माके भाव व हलन चलनसे आत्मा कर्म व स्कंधोंको घसीट कर बांध लेता है।

दैव स्वयं फलता है। वे कर्म स्वयं पककर कुछ काल पीछे झडने लगते हैं तब वे फल प्रगट कर सकते है, उसी फलको कर्मका या दैवका कार्य कहते हैं। उसी फलसे आत्मामें क्रोध, मान, माया, लोभ विकारी भाव होते हैं। उसी फलसे बाहरी अवस्था अच्छी या बुरी होती है या धन, संतान आदि शुभ संयोग या अहितकारी बुरे संयोग मिलते हैं। संसारी आत्माएं अपने ही अशुद्ध भावोंसे अपने दैवको बनाते हैं। यह वस्तुका स्वभाव है। जैसे गर्मीका कारण पाकर पानी स्वयं भाफ बन जाता है, वैसे हमारे भावोंका निमित्त पाकर पाप या पुण्यकर्म स्वयं संचय हो जाता है तथा यह स्वयं गिर भी जाता है। जैसे स्थूल शरीरमे हम निरन्तर हवा लेते हैं, निकालते हैं, सोते जागते, श्वास चलता रहता है। हम पानी पीते हैं, भोजन खाते हैं, हवा, पानी, भोजन शरीरमें जाकर स्वयं पकते हैं व रस, रुधिर, मांस, हाड, वीर्य आदि धातुओंको बनाते

हैं, उनकी यह क्रिया हमारे बुद्धिपूर्वक प्रयत्नके विना ही होती रहती है। वीर्य इनका अंतिम फल या सार है। उस वीर्यकी बदौलत या वीर्यके फलसे हमारा शरीर व हमारे शरीरके अंग उपांग काम करते रहते हैं। जैसे स्थूल शरीरमे स्वयं फल होजाता है वैसे सूक्ष्म कार्मण शरीरमे स्वयं फल होजाता हे।

ईश्वर फलदाता नहीं।

कुछ लोगोंका यह मत है कि कोई ईश्वर पाप या पुण्यकर्मका फल देता हे कर्म स्वयं फल नहीं देसक्ते क्योंकि कर्म जड है। इस बातपर विचार किया जावे तो यह बात ठीक समझमे नहीं आती है। ईश्वर अमूर्तीक शरीर रहित है, मन वचन काय रहित है, मनके विना यह किसीके पाप पुण्यके सन्बन्धमें विचार नहीं करसक्ता, वचनके विना दूसरोंको आज्ञा नहीं देसक्ता, कायके विना स्वयं कोई काम नहीं कर सक्ता है। वह सत्यदर्शी हे, रागद्वेषसे रहित है। वह यदि जगतके अपूर्व जालमें पड़े तो वह स्वय संसारी होजावे, विकारी होजावे। कुछ लोग पाप पुण्य कर्मका संचय भी नहीं मानते है, उनके मतसे ईश्वरको ही सब प्राणियोंके भले बुरेका हिसाब रखना पडता है। अमूर्तीक व शरीर रहित ईश्वरसे यह काम बिलकुल संभव नहीं है। यह सबका दफ्तर कैसे रख सक्ता है, यह बात कुछ भी समझमे नहीं आती है। दोनों ही बातें ठीक नहीं है कि पाप पुण्य कर्मका संचय होनेपर वह ईश्वर उनका फल भुगतावे या संचय न होनेपर ही वह ईश्वर सुख दु ख पैदा करे। ईश्वरमें दयावानपना भी व सर्वशक्तिमान-पना भी माना जाता है, तव ऐसा ईश्वर जिन जगतके प्राणियोंका

है। जितना २ कर्मका परदा हटता जाता है, ज्ञान स्वभाव प्रगट होता जाता है। एक बालक जब विद्या पढने बैठता है तब बहुत कम जानता है, पढते २ या पढनेके पुरुपार्थसे अज्ञानका परदा हटता जाता है ज्ञान बढता जाता है। आत्मा वास्तवमें परमात्मारूप शुद्ध है, इसके साथ अनादिकालसे ही पाप पुण्यका सम्बन्ध है। इसी दैवके कारण यह अनादिकालसे अशुद्ध होरहा है। इसका स्वभाव बहुतसा ढक रहा है। जितना कर्मका परदा हटा है उतना ज्ञान और वीर्य प्रगट है। उसी ज्ञान और वीर्यसे वृक्षादि प्राणी छोटेसे लेकर बड़े तक सर्व ही जंतु, पशु, पक्षी, मानव काम करते रहते है।

दैवका पुरुषार्थपर असर।

किसी कामका पुरुपार्थ करनेपर जब सफलता होती है तब पुण्य कर्मरूपी दैवकी मदद होती है। जब काममें सफलता नहीं होती है तब पापकर्मका फल प्रगट होता है। पापकर्मरूपी दैवने अन्तराय या विघ्न कर दिया। बहुतसे आदमी एक ही प्रकारका व्यापार धनके लिये करते है। किन्हीको अधिक, किन्हींको कम धनका लाभ होता है। कारण यही है कि जिसका पुण्य अधिक उसको अधिक लाभ, जिसका पुण्य कम उसको कम लाभ होता है। किन्हींको धनके पैदा करनेका उपाय करनेपर भी धनकी हानि उठानी पडती है, कारण पापका फल है। किन्हींको नहीं। यह सब पुण्य पापका फल है। लाभ होना पुण्यका फल व हानि होना पापका फल है। हरएक आत्माके पास पुरुषार्थ और दैव दोनों है। दोनोंकी सत्ता विना संसारका व्यवहार नहीं चल सकता है। यदि दैव या पाप पुण्य नहीं

होता तो सर्व आत्माएं सर्वदा ही शुद्ध दिखलाई पड़तीं। सर्व ही सुखी रहते, मरण, रोग, शोक, वियोग आदि कष्ट नहीं होते। यदि पुरुषार्थ नहीं होता तो कोई भी कोई उद्यम नहीं करता। दोनोंका जगतमें काम है।

पुरुषार्थ व दैव दोनों हैं।

पुरुषार्थको ही जो केवल मानते हैं उनके मतसे हरएक प्राणीका पुरुषार्थ सफल ही होना चाहिये। उसमें कोई विघ्नबाधाएं नहीं होनी चाहिये। तथा विचित्रता आत्माओंकी होना दैव या पाप पुण्य विना संभव नहीं है। यदि केवल दैवको माना जावे, पुरुषार्थ न माना जावे तो हरएक प्राणीको वेकाम बैठना चाहिये। भाग्यमें होगा तो भोजन पान आदिका लाभ हो जायगा। पुरुषार्थ करनेमें जो अच्छे या बुरे भाव होते हैं उन ही से दैव या पुण्य पाप बनता है। पुरुषार्थ विना दैव नहीं हो सक्ता। यदि दैव ही दैव माना जावे तो कोई आत्मा कभी पाप पुण्यके बंधनसे छूटकर मुक्त नहीं होसक्ता है। पुरुषार्थ ही केवल जब कोई विवेकी वैराग्य और सम्यग्ज्ञानकी खड्ग सम्हालता है वह पाप पुण्यकर्मके संचयको क्षय करके व नवीन कर्मको न बन्ध करके मुक्त होजाता है।

पुरुषार्थ और दैव विना संसारकी गाडी नहीं चल सक्ती है। यह बात समझ लेनी चाहिये कि दैव दो तरहका होता है—एक तो वह जो आत्माके भावोंमें विकार पैदा करता है, दूसरा वह जो बाहरी संयोग—वियोगके होनेमें लाभ या हानि करता है। जितना ज्ञान, व वीर्य आत्मामें प्रगट है वह पुरुषार्थ अन्तरङ्गका है, वहीं अन्तरङ्गमें

ही उसको धो भी सक्ते हैं। जैसे हम अपने वाहरी दीखनेवाले स्थूल शरीरको भोजन पानी हवा देकर पुष्ट रखते हैं, रोग होनेपर दवाई लेकर रोगको दूर करते हैं, हम ही विप खाकर उस स्थूल शरीरसे छूट भी सक्ते हैं, इसी तरह दैव या पाप पुण्यके वने सूक्ष्म शरीरको हम ही वनाते हैं, हम ही उसे सवल या निर्वल कर सक्ते हैं, हम ही उससे वियोग भी पासक्ते हैं। हमे हरएक कार्यमें पुरुषार्थको मुख्य रखना चाहिये, क्योंकि हमारी वुद्धिगोचर यही रह सक्ता है। दूसरी शताब्दीके प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ आप्तमीमांसामें लिखते है-

दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैवं पौरुषतः कथम् ।
दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥ ८८ ॥

भावार्थ—यदि दैवसे या पाप पुण्यकर्मसे ही कार्यकी सिद्धि होजाया करे, दुःख सुख होजाया करे, ज्ञानादि होजाया करे, तो दैवके लिये पुरुषार्थकी क्या जरूरत रहे? मन, वचन, कायकी शुभ या अशुभ क्रियासे पाप या पुण्यकर्म या दैव वनता है, यह वात विलकुल सिद्ध नहीं हो। यदि दैवसे ही वन जाया करे तो दैवकी संतान सदा चलनेसे कोई पाप पुण्य कर्मरूपी दैवसे छूटकर मुक्त नहीं हो सक्ता है। तव दान, शील, जप, तप, ध्यान आदिका सर्व धर्म-पुरुपार्थ निष्फल होजावे, मिथ्या होजावे।

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम् ।
पौरुषाच्चेदमोघं स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥ ८९ ॥

भावार्थ—यदि सर्वथा पुरुषार्थसे ही हरएक कामकी सिद्धि

मानी जावे तो पुण्यरूपी दैवके निमित्तसे पुरुषार्थ सफल हुआ या पापके फलसे असफल हुआ, यह बात नहीं कही जासक्ती। क्योंकि एकसा काम करनेवाले कोई सफल होते हैं, कोई सफल नहीं होते हैं। यदि सर्वथा पुरुषार्थसे ही कार्यसिद्धि होजाया करे तो सर्व प्राणियोंके मीतर पुरुषार्थ विना चूक सफल होजाया करे। पापी जीव भी सुखी ही रहे, कभी कोई विघ्न बाधाएं ही नहीं आवें, सबका मनोरथ सिद्ध हो।

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥ ९१ ॥

भावार्थ—स्वामी दोनोंकी जरूरत बताकर यह कहते हैं कि जिस बातका बुद्धिपूर्वक विचार नहीं किया गया हो किंतु सुख दुःख विघ्न आदि होजावें उनमें मुख्यता दैवकी या पूर्वमें बाधे हुए अपने ही पुण्य पापकर्मके फलकी लेनी चाहिये। जो काम बुद्धिसे विचार-पूर्वक किया जाता है उसमें इष्ट व अनिष्टका होना अपने ही पुरुषा-र्थकी मुख्यतासे है। यद्यपि गौणतासे इष्टके लाभमें पुण्यकर्मकी व अनिष्टके होनेमें पापकर्मकी भी आवश्यक्ता है। दोनोंको परस्पर अपेक्षासे लेना चाहिये। क्योंकि कर्मका भावी उदय क्या होगा यह हमको विदित नहीं है इसलिये हमें तो हरएक कामको विचारपूर्वक करना चाहिये।

दशवीं शताब्दीके प्रसिद्ध आचार्य श्री अमृतचन्द्र पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय ग्रंथमें कहते हैं—

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ॥ ९ ॥

कारण पडता है। ज्ञान और वीर्यके बलसे यह भावोंको ठीक कर सक्ता है। तो भी जितने अंश भावोंमें अशुद्धता रागद्वेष मोहकी होती है उतने अंश नया कर्मबन्ध हो जाता है, इसतरह इस आत्माके अशुद्ध पुरुषार्थसे दैव बनता है। दैवके फलसे अशुद्ध भाव होते हैं। यह काम अनादिसे होता चला आ रहा है। जब कभी यह आत्मा ज्ञानी होकर मिथ्या श्रद्धानको दूर करके यह जान जाता है कि मेरा स्वभाव परम शुद्ध है, रागद्वेष मोह रहित ज्ञानानन्दमय है, रागद्वेष मोहका झलकाव मोहकर्मके उदयसे होता है व इस ज्ञानका दृढ विश्वास कर लेता है, तब आत्माके वीतराग भावमें जमनेका अभ्यास करता है, तब नए दैवका संचय रोक देता है व पुराने दैवको जला करके शुद्ध या मुक्त हो जाता है, मोक्ष पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है। ज्ञानी जीव दैवपर विजय पा लेता है।

इस कारण पुरुषार्थ ही दैवसे बडा है। संसारमें अपनी आसक्तिरूपी भूलसे दैव बनता है तब संसारकी आसक्ति छोड देनेसे दैवका बनना बन्द हो जाता है। ज्ञान व वैराग्यके ध्यानसे पिछला दैव जल जाता है। ज्ञान और वीर्यरूपी पुरुषार्थके द्वारा सावधान रहनेसे ही दैवपर विजय मिलती जाती है। जैसे बीजको एक दफे पका लेनेपर या जला देनेपर फिर वह बीज नहीं उगता है, वैसे ही यह आत्मा जब कर्मोंके बीजको जलाकर मुक्त या शुद्ध होजाता है, तब फिर नए कर्मोंका बंध न होनेपर संसार दशामें नहीं आता है।

दशवीं शताब्दीके श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती गोम्मटसार कर्मकांडमें लिखते हैं—

पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो।
कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं ॥ २ ॥

भावार्थ—जीवका और कर्म प्रकृतिरूप कार्मण शरीरका या दैवका दोनोंका प्रवाहरूपसे अनादिसे संबध है। जैसे खानसे निकले हुए कनक पाषाणमें सुवर्ण और मलका संबंध है। यह बात स्वयं सिद्ध है कि जीव भी है और दैव भी है।

इस तरह इस अध्यायमें यह बात संक्षेपमें बताई गई है कि जीवका अपना ज्ञान व वीर्यका जो कुछ प्रयत्न है वह पुरुषार्थ है। और जो पाप तथा पुण्यकर्म है वह दैव है। दैवको जीव बताया है, जीव ही उसका फल भोगता है। जीव ही उसमें तबदीली कर सक्ता है व जीव ही अपने यथार्थ धर्मपुरुषार्थसे दैवका क्षय करके सिद्ध व शुद्ध व मुक्त हो सक्ता है, दैवको जीत सक्ता है। पुरुषार्थका ही महानपना है। आगेके अध्यायोंमें इसी अध्यायके कथनका विस्तार किया जायगा।

है । इससे कडा, कंठी, अंगूठी, वाली, भुजवन्ध, हार आदि अनेक गहने वन सक्ते हैं । एक गहना एक समयमें वनेगा, दूसरा वनानेके लिये पहलेको तोडना होगा । जिस समय कंठीको तोडकर कडा वनाया जायगा । कंठीका नाश जव होगा तव ही कडेकी उत्पत्ति होगी. सोनापना रहेगा । इसलिये सोना गुण पर्यायवान व उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है ।

चादीमें सफेदी चिकनई आदि गुण हैं । चादीकी थाली, गिलास, कटोरी, चमची, आदि पर्यायें वन सक्ती हैं । एक प्रकारकी चांदीकी एक वस्तु ही एक समयमें वनेगी । दूसरी वस्तु वनानेके लिये पहलीको तोडना पडेगा । चादीका कभी नाश नहीं होगा इसलिये चादी गुण पर्यायवान व उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप सिद्ध हो जाती है ।

गेहूंमें गेहूंके गुण हैं । सेरभर गेहूंको पीसकर आटा वनाते है. आटेको पानीसे भिगोकर लोई वनाते है. लोईको रोटीकी शकलमें वेलते हैं, रोटीको पकाते है, गेहूकी कई पर्यायें वदलीं, गेहूंपना वना ही रहा । इसलिये गेहूं गुण पर्यायवान व उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है ।

लकडीमे लकडीके गुण है । उससे कुरसी. पलंग. तिपाई, मेज, पाटा, तखत आदि अनेक चीजें वना सक्ते है । एक लकडीसे एक चीज एक समयमे तैयार होगी उसे तोडकर दूसरी चीज वनानी होगी, लकडी वनी रहेगी, इसलिये लकडी गुण पर्यायवान व उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है ।

कपासमे कपासके सफेदी आदि गुण हैं । थोडीसी कपास हमारे पास है, इसको तागेमे वदल सकते है, तागोंसे कपडेका थान वुन सकते हैं, उस थानसे कुरता, टोपी, अंगरखा, पायजामा, धोती आदि

बना सकते हैं। एक दशा बिगड़ेगी तब दूसरी बनेगी। कपासपना कभी नाश नहीं होगा। इसलिये कपास गुण पर्यायवान है व उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। हजारों लाखों दृष्टान्तोंसे यही सिद्ध होगा कि मूल वस्तु सदा बनी रहती है। केवल उसकी पर्यायें या अवस्थाएं ही बनती तथा बिगडती हैं।

आत्माकी तरफ विचार करें तो हम देखेंगे कि कोई आत्मा किसी समय क्रोधी होरहा है, वही कुछ देर पीछे शांत होजाता है। यहां क्रोधका नाश व शांतिका जन्म हुआ तथापि आत्मा वही है। जब एक मानव मरकर पशु पैदा होता है तब मानवपनेका नाश, पशु-पनेका जन्म हुआ परन्तु आत्मा वही है। इस जगतमें जितने मूल पदार्थ जीव तथा अजीव हैं वे सब बने रहते हैं, केवल उनमें अवस्थाएं बदला करती हैं। Root substances always exist, only the conditions are changing इस जग-तको जो परिवर्तनशील व क्षणिक व नाशवंत कहा जाता है वह सब अव-स्थाओंके बदलनेकी अपेक्षासे ही कहा जाता है। कहीं नगर उजाड होगया, कहीं नगर बस गया। पानीसे भाफ बनती है, मेघ बनते है। मेघसे फिर पानी बनता है। नदी सूख जाती है फिर भर जाती है। कहीं मकान टूट जाता है कहीं बन जाता है। सर्व ही द्रव्य अपनी २ अवस्थामें हमको दिखलाई पडते हैं। वे अवस्थाएं बदलती हैं, इसीसे जगतके पदार्थ मिथ्या व नाशवंत कहाते है, परन्तु हम किसी भी वस्तुका सर्वथा लोप नहीं कर सक्ते हैं। कपडेको जलाएंगे, राख बन जायगी। न कोई चीज विना किसी चीजके बिगडे बन सक्ती है न

३–द्रव्यत्व–जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यमें पर्यायें या अवस्थाएं सदा होती रहें । द्रव्य परिणमनशील हो, वदलनेकी शक्ति रखता हो, कूटस्थ नित्य न हो, उसी शक्तिसे जगतमे भिन्न २ अवस्थाएं देखनेमें आती हैं । पानीसे वर्फ वनती है, भाफ वनती है, गेहूंसे रोटी वनती है, मिट्टीसे घडा बनता है, शरीर वालकसे युवा, युवासे वृद्ध हो जाता है । जन्मके वाद मरण, मरणके वाद जन्म हो जाता है, दिनसे रात रातसे दिन होता है ।

४–प्रमेयत्व–जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्य किसीके ज्ञानका विषय हो, कोई उसको जान सके । यदि द्रव्योंका ज्ञान न हो तो उनका होना भी कैसे कहा जावे ? इससे सिद्ध है कि सर्वज्ञ केवली भगवान परमात्मा सव द्रव्योंको जानते है, वे ही अरहंत पदमें या जीवनमुक्त पदमें अपनी दिव्य वाणीसे प्रकाश करते है। अल्पज्ञ पूर्ण नहीं जान सक्ते है। जितना जितना ज्ञान वढता है द्रव्योंका ज्ञान अधिक होता है । शुद्ध व निरावरण ज्ञान सवको पूर्ण जानता है । द्रव्योंमें वह शक्ति है कि वे जाने जा सकें ।

५–अगुरुलघुत्व–जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्य अपनी मर्यादाको उल्लंघ कर कम या अधिक न हो । जितने गुण जिस द्रव्यमें हों वे सदा बने रहें । उनमेंसे कोई गुण कम न हो न कोई गुण मिलकर अधिक द्रव्य अपने गुणसमूहको लिये हुए सदा ही वना रहे । इसी शक्तिके कारण जीव कभी अजीव नहीं होसक्ता, न अजीव कभी जीव होसक्ता है ।

६–प्रदेशवत्व–जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यका कुछ आकार (Size) अवश्य हो । हरएक द्रव्य जो जगतमें है वह आकाशके

उनको देखनेकी दो दृष्टिया या अपेक्षाएं या नय standpoints है एक निश्चय नय या असली या सच्ची दृष्टि real point of view दूसरी व्यवहार नय या लौकिक दृष्टि या असत्य या अशुद्ध दृष्टि practical point of view हजार रंगीन पानीके वर्तनोमें निश्चय-नयसे केवल पानी ही पानी दीखता है। शुद्ध असली पानी दिखता है, व्यवहारनयसे रंग दिखता है उसी तरह संसारी आत्माएं कर्म मैलसे विचित्र प्रकारसे मिली हुई हैं, निश्चयनयसे देखा जावे तो सव शुद्ध अपने स्वभावमे दीखती है, व्यवहारनयसे नाना प्रकार अशुद्ध दीखती हैं व कहलाती है। कोई क्रोधी, कोई मानी, कोई मायावी, कोई लोभी, कोई शोकी, कोई हर्षित, कोई विशेष ज्ञानी, कोई कम ज्ञानी, कोई अज्ञानी। शरीरकी अपेक्षा कोई पशु, कोई पक्षी, कोई स्त्री, कोई पुरुष आदि। दोनों दृष्टियोंसे आत्माको जानना चाहिये, पहले हम निश्चयनयसे आत्माका स्वभाव या सच्चा स्वरूप विचारते हैं।

आत्माका स्वभाव। आत्मा स्वभावसे परम शुद्ध है, जैसे निर्मल जल स्वभावसे निमित्त है। शुद्ध पानी निर्मल, मीठा, शीतल होता है, वैसे यह आत्मा स्वभावसे निर्मल ज्ञाता-दृष्टा निर्विकार वीतराग आनन्दमय परमात्मारूप है। इसके छः विशेष स्वभावोंका विचार यहा करते है। १–ज्ञान, २–दर्शन, ३–सम्यक्त, ४–चारित्र, ५–वीर्य, ६–सुख।

ज्ञानदर्शन—जो सव जाननेयोग्यको जान सके वह ज्ञान है, जो सब देखनेयोग्यको देख सके वह दर्शन है। सामान्य चेतनभावको दर्शन, विशेष चेतनभावको ज्ञान कहते हैं। हरएक पदार्थ सामान्य

विशेषरूप है, शुद्ध ज्ञानदर्शन सबको एकसाथ जानते व देखते है। संसारी आत्माएं मैली हैं उनके ज्ञानदर्शन स्वभावपर परदा है। जितना परदा जिसका दूर हुआ है उतना ही वह जानता देखता है। एक बालक बहुत कम जानता है, विद्या पढ़नेसे व अनुभवसे ज्ञानी हो जाता है। उसके भीतर ज्ञानकी वृद्धि कैसे हुई? ज्ञानके होनेमें बाहरी कारण अध्यापकगण व पुद्गलमें है, भीतरी कारण अज्ञानका परदा हटता है। ज्ञान ऐसा गुण है जो भीतरसे ही विकास पाता है, कोई बाहरसे दे नहीं सक्ता। देन लेन ज्ञानमें नहीं होता है। जहा देन लेन होता है वहा एक जगह घटती होती है तब दूसरी जगह बढ़ती होती है। जैसे—धनके देन लेनमें होता है। किसीके पास हजार रुपये हैं, यदि वह १००) सौ देता है उसके पास ९,००) नौसौ रह जाते हैं तब पानेवालेको सौ मिलते है। ज्ञानमें ऐसा नहीं होता है। यदि ऐसा देनलेन हो तो पढानेवाले ज्ञानमें घटे तब पढ़नेवाले ज्ञानमें बढ़े। ज्ञानके सम्बन्धमें देनेवाले व पानेवाले दोनों ही ज्ञानको बढ़ाते है। पढ़ानेवालोंका ज्ञान भी साफ होता हैं, कम नहीं होता हैं। पढ़नेवालोका ज्ञान तो बढ ही जाता है। दोनो तरफ बढ़ती होनेका कारण दोनो तरफ भीतरसे अज्ञानका नाश है। ज्ञानके ऊपरसे मैलका दूर होना है। इससे सिद्ध है कि पूर्ण ज्ञानकी शक्ति हरएक आत्मामें है। जिसका जितना अज्ञान हटता है उतना वह जानता है। परमात्माको सर्वदर्शी व सर्वज्ञ इसीलिये कहते हैं कि उसका ज्ञानदर्शन शुद्ध हैं, उनपर कोई रज या मल नहीं हैं। परमात्मा विश्वके सर्व पदार्थोंको जानते हैं। उनकी भूत, भावी, वर्तमान, तीनों कालोंकी

माया—कषाय भी ज्ञानको मैला कर देता है, कुटिल बना देता है। मायाचारी अच्छी शिक्षा ग्रहण नही करता है। ज्ञानका बुरा उपयोग करता है। परको ठगता है। मायाचारीके परिणामोंमे सदा आकुलता व भय बना रहता है। इस कारण ज्ञानकी निर्मलता नहीं रहती है। सरलतासे जो ज्ञानका विकास होता है वह माया कषायके कारण बंद हो जाता है, माया भावके कारण किया गया शास्त्र पठन, जप, तप, धर्माचरण सब अपने फलको नहीं देते है, उनसे भावोंकी स्वच्छता नहीं होती है।

लोभ—कषाय सर्व विकारोंका मूल है। लोभसे प्राणी अन्धा होकर धर्मोपदेशको भूल जाता है। अन्याय व असत्यका दोष उसके मन, वचन, कायके वर्तनमे हो जाता है। लोभ कषाय आत्माको पाचों इन्द्रियोंके भोगमे प्रेरित करता है तब न्याय अन्यायका विचार जाता रहता है, भोग सामग्रीको चाहे जिस तरह प्राप्त करता है, भोगासक्त होकर तृष्णाका रोग बढा लेता है। चाहकी दाहमे जला करता है। इष्ट विषयोंके न पानेपर आकुलित होता है, इष्ट विषयोंके वियोगपर शोक करता है, मर्यादाका ध्यान नहीं रहता है। जितना २ धनादिका संग्रह होता जाता है और अधिक चाहको बढा लेता है। सन्तोषसे जो सुख मिलता है वह लोभके विकारसे नाश हो जाता है।

इस तरह चारों ही कषायभाव आत्माके भीतर मैल पैदा करते हैं, आत्माका चारित्र गुणका शांतभाव बिगड जाता है। ज्ञान गुणको विकारी बना देते है। इसलिये यह बात निश्चय करना चाहिये कि आत्माका स्वभाव परम शांतभाव या वीतरागभाव है या चारित्र

है। शांत भाव रहते हुए ज्ञानका विकास होता है। शांत भावमें तत्वोंका मनन होता है। शांतभाव भावोंको निराकुल व निर्मल रखता है।

वीर्य—वीर्य भी आत्माका स्वभाव है। आत्मामें अनंत बल है, जिससे इसके सर्व ही गुण पुष्ट रहते हैं। यह अपने वीर्यसे सदा ही स्वभावके भोगमें तृप्त रहता है। संसारी आत्माओंमें वीर्यकी जितनी प्रकटता होती है उतना ही अधिक उत्साह बना रहता है। हरएक काममें साहसकी जरूरत है। यही आत्मवीर्य है। आत्माके बलसे ही शरीरके अंग उपंग काम करते हैं। आत्माके निकल जानेसे शरीर बेकाम मुरदा होजाता है। शरीरमें बहुत बल होनेपर भी यदि आत्मबल न हो तो युद्धमें सिपाही काम नहीं कर सक्ता है। व्यापारी व्यापार नहीं कर सक्ता है। बड़े बड़े काम साहससे ही होते हैं। ज्ञानका काम जानेका है। वीर्यका काम ज्ञानके प्रमाण क्रिया करनेका है। यदि आत्मामें मैल न हो तो यह वीर्य गुण पूर्ण प्रकाश रहे। परमात्मामें कोई मैल नहीं है। इसीसे उसमें अनंत बल सदाकाल रहता है। आत्म वीर्यको भी आत्माका स्वभाव निश्चय करना चाहिये।

सुख—या परमानंद भी आत्माका मुख्य गुण है। जहां ज्ञानमें शांति रहती है वहां सुख गुणका प्रकाश रहता है। परमात्मामें कोई विकार या अशांति नहीं है, इससे यहां अनंत सुख सदा बना रहता है। यह सुख स्वाधीन है। किसीके पराधीन नहीं है।

जैसे ज्ञान, चारित्र, आत्माका गुण है वैसे ही सुख आत्माका खास गुण है। संसारी जीवोंको जो इन्द्रियोंके भोगसे सुख भासता है वह उसी सुख गुणका अशुद्ध झलकाव है। इन्द्रिय सुखसे कभी तृप्ति

अवधि तक ज्ञान होता है। मनःपर्यय ज्ञान–यह भी दिव्यज्ञान है जिससे एक योगी महात्मा साधु दूरवर्ती मानवोंके मनकी सूक्ष्म रूपी बातोंको जान लेता है। साधारणमें संसारी सर्व ही प्राणियोंके पहले दो ज्ञान मति व श्रुत पाए जाते हैं। जितना ज्ञान प्रगट रहता है वह आत्माके ही ज्ञान गुणका अंश है, दैवका फल नहीं है, किन्तु दैवका अन्धकार दूर होनेपर प्रकाशकी झलक है।

इसी प्रगट ज्ञानको पुरुषार्थ कहते हैं। इस प्रकाशसे हरएक आत्मा स्वतंत्रतासे जाननेका काम कर सक्ता है। जितनी ज्ञानकी शक्ति ढकी है उतना ही अज्ञान रहता है। दर्शनावरण कर्मका जितना क्षयोपशम रहता है अर्थात् जितना उसका उदय नहीं रहता है उतना दर्शन गुणका प्रकाश होता है। वह विभावदर्शन तीन प्रकारका होता है। चक्षुदर्शन–आंखके द्वारा सामान्य अवलोकन। अचक्षु-दर्शन–आंखको छोडकर अन्य चार इन्द्रिय तथा मनसे सामान्य अवलोकन। अवधिदर्शन–यह दिव्य दर्शन है जो आत्माहीके द्वारा अवधिज्ञानकी तरह होता है। जितना दर्शनगुण प्रगट रहता है उतना पुरुषार्थ है। स्वभावरूप ज्ञानको केवलज्ञान, स्वभावरूप दर्शनको केवलदर्शन कहते हैं।

इस तरह सर्व ज्ञान पांच प्रकार व दर्शन चार प्रकार हैं। मोह-नीय कर्मके दो भेद हैं–दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय सम्यक्त गुणको घात करता है। जबतक यथार्थ प्रतीति आत्मा और अन्य पदार्थोंके सत्य स्वरूपकी न हो तबतक सम्यक्त गुणका विपरीत भाव मिथ्यात्व प्रगट रहता है। जब इस मिथ्यात्व

भावका बहुत जोर होता है तब इस प्राणीको धर्मकी तरफ, सत्य आत्मकल्याणकी तरफ रुचि नहीं होती है। यह संसारके विषयभोगोंका ही प्रेमी बना रहता है। वैराग्य भाव व शुद्ध आत्माका श्रद्धान नहीं जगता है। यह अज्ञानी होकर अपने सत्य स्वभावको भूले रहता है। दैव व कर्मका उदय सदा एकसा नहीं रहता है। जब कभी दर्शन-मोहनीय कर्मका उदय मंद पड़ता है तब कुछ २ लक्ष्य धर्मकी तरफ जाता है।

ज्ञानके साधक सत्य आगमके अभ्याससे व सत्य धर्मोपदेशक गुरुके उपदेशसे जब कुछ समझ बढ़ती है और यह अभ्यासी तत्वोंका वारवार मनन करता है, अपने ज्ञान व वीर्यके पुरुषार्थको काममें लेता है तब मिथ्यात्व भाव पलट कर सम्यक्त गुण प्रकाश हो जाता है। सम्यक्त गुणका प्रकाश होना एक और परमकल्याणकारी पुरुषार्थका लाभ हो जाना है। जब तक सम्यक्त गुण प्रगट नहीं होता है तबतक मिथ्यात्व भाव विभाव बना रहता है। इस मिथ्यात्व भावके कारण संसारी आत्मा अपनेको भूले रहता है, मोह ममतामें फंसा रहता है।

चारित्र मोहनीय—कर्म चारित्रको या शांत भावको घात करता है तब इस कर्मके उदयमें क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषायोंमेंसे कोई कषाय भावोंको मैला बनाए रहती है। ये चारों ही कषाय आत्माकी वैरी है। इनका भी उदय सदा एकसा नहीं रहता है। इन कषायोंके उदयका असर चार तरहका होता है—तीव्रतर, तीव्र, मंद, मंदतर। दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय दोनोंका उदय आत्माके भावोंको विकारी व मतवाला बना देता है। भीतरी दैव यही बाधक है। ज्ञान, दर्शन, वीर्य, गुण

जब पूर्ण शुद्ध ज्ञान दर्शन प्रगट होता है तब प्रत्यक्ष आत्माका साक्षात् ज्ञान व दर्शन होता है तब अतीन्द्रिय आत्मामें थिरता अनंतवीर्यके गुण द्वारा होती है । मोहके क्षयसे सम्यक्त चारित्र गुण शुद्ध प्रगट होता है तब ही अनंत शुद्ध सुख गुणका प्रकाश होता है । जबतक इनका उदय होता है व तीन कर्म ज्ञानावरण दर्शनावरण व अंतरायका क्षयोपशम या जितना उदय नहीं होता है उतना अशुद्ध या अपूर्ण सुख गुण प्रगट रहता है। जहातक पूर्ण शुद्ध अनंत सुख गुण न झलके वहातक स्वभाव न होकर विभाव रहता है ।

उस विभावरूप सुखके तीन भेद सासारिक अशुद्ध दशामें प्रगट होते है–(१) इन्द्रियजनित सुख । रागी जीव रागमे इन्द्रियके भोगोंको जानकर उस भोगमे अपने वीर्यसे तन्मय हो जाते है तब रति करनेसे अतृप्तिकारी सुख वेदन होता है या कभी मनसे इष्ट पदार्थोंका चिन्तवन करके भी सराग सदोष सुखका अनुभव होता है । (२) दु खका अनुभव जब इष्ट पदार्थका वियोग होता है व अनिष्ट पदार्थोंका संयोग होता है तब इन्द्रिय या मन द्वारा उनका ज्ञान होते हुए वीर्य द्वारा उस कष्टको भोगा जाता है। इसमे अरति भावके द्वारा सुख गुणकी मलीन द्वेष रूप अवस्था प्रगट होती है इसीको दुःख, क्लेश, कष्ट या शोक कहते है। (३) सम्यक्तके चारित्र गुणके कुछ अंश शुद्ध होनेपर जब आत्मज्ञानी इन्द्रियोंसे व मनसे उपयोगको हटाकर अपने ही शुद्ध आत्माके स्वरूपमे जोडता है और आत्मानुभव झलकाता है तब आत्मीक सुखका वेदन होता है। यह सुख सच्चा है तौ भी शुद्ध व पूर्ण न होनेसे विभाव है ।

इस तरह दैव या कर्मका प्रवाहरूपसे अनादिकालीन संयोग इस संसारी आत्माके साथ होरहा है। इसीलिये स्वाभाविक गुण शुद्ध तथा पूर्ण प्रगट नहीं हैं. अपूर्ण व अशुद्ध ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त, चारित्र, वीर्य व सुख गुण प्रगट हैं इसीलिये इनको 'विभाव कहते हैं। मोहनीय कर्मका फल मदिराके समान मोह या प्रमाद या असावधानी या कषाय भावोंको पैदा कर देना है। उन मोहमई विभावोंके कारण साधारण रूपसे जगके प्राणी अपनी आत्माके मूल शुद्ध स्वभावको भूले हुए हैं व संसारके भीतर फंसे हुए अहंकार ममकार कर रहे हैं। कर्मके फलसे जो आत्माके विभाव दशा होती है वही मैं हूं, यह अहंकार है। जैसे—मैं क्रोधी, मैं मानी, मैं मायावी, मैं लोभी, मैं सुखी, मैं दुखी।

जो वस्तु अपनी नहीं है पर है उसको अपनी मानना ममकार है। जैसे—मेरा शरीर है, मेरा घर है, मेरा परिवार है, मेरा पुत्र है, मेरा ग्राम है, मेरा देश है, मेरी संपत्ति है, इस अहंकार ममकारमें फंसा हुआ रात दिन कर्तापनेका भाव किया करता है। यद्यपि निश्चयसे या स्वभावसे यह आत्मा पर भावका या पर पदार्थोंको करनेवाला नहीं है तौभी मोही अज्ञानी जीव ऐसा माना करता है—मैंने शुभ या अशुभ भाव किये, मैंने प्राणियोंको दु:ख व सुख पहुंचाया, मैंने भला किया मैंने बुरा किया, मैंने घटपट मकान गहना वर्तन आदि बनाया, मैंने तप किया, मैंने जप किया, मैंने दान किया, मैंने पूजा की, मैंने परोपकार किया; इस तरह अपने आत्माको पर या अशुद्ध भावोंका कर्ता माना करता है। तथा व्यवहारमें ऐसा ही कहा जाता है व

ग्रहण नहीं कर सक्ते हैं। जगतके प्राणियोंका विभाग प्राणोंकी अपेक्षा नीचे प्रकार है—

प्राण दश होते है—पाच इन्द्रिय प्राण, काय वल, वचन वल, मन वल, प्राण, आयु, उच्छ्वास। जिनसे कोई जीव स्थूल शरीरमें जाकर कुछ काम कर सके उन शक्तियों (Vitalities) को प्राण कहते हैं।

एकेन्द्रिय प्राणी—जैसे पृथ्वीकायधारी, जलकायधारी, अग्निकायधारी, वायुकायधारी, वनस्पतिकायधारी, Vegitables इन पांच प्रकारके स्थावर कायवालोंके एक स्पर्शनइन्द्रिय होती है, जिससे छू करके ही जानते है। इनके चार प्राण पाए जाते है—१ स्पर्शनइन्द्रिय, २ कायवल, ३ आयु, ४ उच्छ्वास।

द्वीन्द्रिय प्राणी—जैसे लट, केचुआ, कौड़ी, संख, सीप। इनके स्पर्शन व रसना दो इन्द्रियां होती हैं, ये छूकर व खाकर जानते हैं। इनके प्राण छः होते है। एकेन्द्रियके चार प्राणोंमें रसना इन्द्रिय व वचनवल वढ़ जाते है।

तेन्द्रिय प्राणी—जैसे चीटी, खटमल, जूं, इनके स्पर्शन, रसना, नाक तीन इन्द्रिय होती है। ये छूकर, खाकर व सूंघकर जान सक्ते हैं इनके प्राण सात होते हैं एक नाक इन्द्रिय वढ़ जाती है।

चौन्द्रिय प्राणी—जैसे मक्खी, भौंरा, पतंग, भिड़ इनके स्पर्शन, रसना, नाक, आंख चार इन्द्रियें होती हैं। ये छूकर, खाकर, सूंघकर व देखकर जान सक्ते है। इनके प्राण आठ होते है। एक आंख वढ जाती है।

पंचेन्द्रिय प्राणी असैनी—जैसे पानीमें रहनेवाले कोई २

२—तैजस वर्गणाएं—इनसे तैजस शरीर (बिजलीका शरीर) Eelectrical body बनता है। यह शरीर कार्मण शरीरके साथ-साथ रहता है।

३—मनोवर्गणाएं—इनसे द्रव्य मन mind organ हृदयके स्थानमें आठ पत्तोंके कमलके आकारका बनता है। इससे तर्क शक्तिमें मदद मिलती है।

४—भाषा वर्गणाएं—इनसे शब्द या बोली या आवाज बनती है।

५—आहारक वर्गणाएं—इनसे तीन शरीर बनते हैं। औदारिक—मनुष्य व तिर्यंचोंका स्थूल शरीर, वैक्रियिक—देव तथा नारकियोंका स्थूल शरीर, आहारक—साधुका दिव्य शरीर जो विशेष तपसे बनता है।

दश प्राणधारी मानव जन्मसे लेकर मरण तक इन पांचों प्रकारकी वर्गणाओंको हर समय ग्रहण करता रहता है। आत्मामें एक योगशक्ति है यही खींचनेवाली शक्ति है। इसके द्वारा अपने आपसे वर्गणाएं खिचकर आती है। लोक सब जगह इन पांचों प्रकारकी वर्गणाओंसे पूर्ण भरा है। जैसे गर्म लोहा पानीको खींच लेता है या चुम्बक पाषाण लोहेको खींच लेता है वैसे योगशक्ति इनको खींच लेती है।

योगशक्तिकी तीव्रता या प्रबलतासे अधिक वर्गणाएं खिचती हैं, उसकी मंदतासे या निर्बलतासे थोड़ी वर्गणाएं खिचती है। योगाभ्यासी तपस्वीके बहुत वर्गणाएं खिचकर आती हैं। एकेन्द्रिय स्थावरके बहुत कम आती हैं, क्योंकि उसकी योगशक्ति निर्बल है। इन पांचोंमें

सबसे सूक्ष्म व सबसे अधिक शक्तिधारी कार्मण वर्गणाएं हैं।

तैजस वर्गणामें जितने परमाणुओंका बंध है उससे अनंतगुणे परमाणुओंका बंध कार्मण वर्गणामें है। जैन सिद्धान्तमें संख्याका अल्प-बहुत्व मात्र बतानेके लिये संख्यात, असंख्यात, अनंत ऐसे तीन भेद किये हैं। मनुष्यकी बुद्धिमें आने योग्य गणना संख्यात तक है, शेष दो अधिक अधिक हैं। तैजस वर्गणाको बिजली या electric का स्कंध समझना चाहिये।

बिजलीकी शक्तिसे कैसे २ अपूर्व काम हो रहे हैं यह बात आजकलके विज्ञानने प्रत्यक्ष बता दी है। हजारों कोस दूरका शब्द सुन पड़ता है, हवाई विमान चलते हैं, बेतारकी खबरें जाती हैं, तब कार्मण वर्गणामें आश्चर्यकारी शक्ति होनी ही चाहिये तब ही पाप पुण्य कर्ममय कार्मण शरीरसे संसारी प्राणियोंकी विचित्र अवस्थाएं होती हैं।

कार्मण शरीरके बननेका उपादान या मूल कारण कार्मण वर्गणाएं हैं। निमित्त कारण आत्माकी योगशक्ति व मोह भाव या क्रोधादि कषाय भाव या राग द्वेष मोह हैं।

मन वचन या कायके हलन चलनसे आत्माके प्रदेशोंमें या आकारमें कंपनी होती है, लहरें प्रगट होती हैं, इस आत्म परिस्पंदको द्रव्ययोग कहते है। उसी काल योगशक्ति वर्गणाओंको खींचती हैं। इस शक्तिको भावयोग कहते हैं। ये खिंचकर आए हुए कर्म पहलेसे स्थित कार्मण शरीरके साथ बंध जाते हैं। उनके बंधनेमें तीव्र, तीव्रतर, मंद, मंदतर कषाय भाव निमित्त कारण होते हैं। कषाय सहित योगसे जो कर्म आते हैं उसको सांपरायिक आस्रव कहते हैं, क्योंकि वे

३—वेदनीय, ४—मोहनीय, ५—आयु, ६—नाम, ७—गोत्र, ८—अंतराय।

इन आठों कर्मोंके बंधके निमित्त कारण संसारी प्राणीमें होनेवाले योग व कषाय हैं। विशेष जाननेके लिये हरएक कर्मके बंधके कारण नीचे लिखे भाव हैं:—

ज्ञानावरण तथा दर्शनावरणके कारण-विशेष भाव।

१—प्रदोष भाव—तत्वज्ञानकी व मोक्षमार्गकी उपकारी बातें सुनकर या जानकर भावोंमें प्रसन्न होकर द्वेषभाव या दुष्टभाव या मलीनभाव या पैशून्यभाव, ईर्षाभाव रखना।

२—निह्नव—आप जानते हुए भी कहना कि हम नहीं जानते हैं, अपने ज्ञानको छिपाना। ज्ञानके छिपानेमें दूसरा कोई उस ज्ञानका लाभ नहीं ले सकेगा, यह दोष होगा।

३—मात्सर्य—ईर्षाभावसे ज्ञानदान नहीं करना। दूसरा भी जानकर मेरे बराबर हो जायगा, मेरी प्रतिष्ठा घट जायगी या मेरा स्वार्थ साधन नहीं होगा।

४—अन्तराय—ज्ञानदर्शनके कारणोंको बिगाड़ना, ज्ञानके प्रकाशमें विघ्न करना, ज्ञानकी वृद्धि न होने देना, शास्त्रोंको न दिखाना, ज्ञान प्रचारमें तन मन धनका लगाना।

५—आसादन—दूसरा कोई ज्ञानका प्रकाश करना चाहता है उसको मना करना, न कहने देना, ज्ञानीका विनय न करना, गुण प्रकाश न होने देना।

६—उपघात—यथार्थ ज्ञानका कुयुक्तियोंसे खण्डन करना,

सत्यको असत्य ठहराना। ज्ञानदर्शनके प्रकाशमें सर्व ही दोष इन कर्मोंके बंधके कारण हैं।

दुःखफलदायक 'असातावेदनीय' कर्मके बन्धके विशेष भाव।

(१) दुःख—स्वयं दुःखी होना, दूसरोंको दुःखी करना या ऐसे काम करना व ऐसी बातें करना जिससे आप भी दुःखी हो व दूसरोंको भी दुःख हो।

(२) शोक—हितकारी वस्तुके न होनेपर व वियोग होजाने पर शोक स्वयं करना या दूसरेको शोकित करना या इस तरह वर्तना, जिससे आप व दूसरे दोनों शोकित हों।

(३) ताप—अपयश आदि बुरा फल होनेके कारण अन्तरंगमें तीव्र संताप विदित करना या दूसरेको संतापित कर देना, या ऐसा व्यवहार करना जिससे आप भी पश्चात्ताप करें व दूसरे भी पश्चात्ताप करें. यहां भावोंमें संक्लेशपन रहता है।

(४) आक्रन्दन—भीतरी कष्टको रोकर, आंसू बहाकर प्रगट करना या दूसरेको रुला देना, या ऐसा वर्तन करना जिससे आप भी विलाप करे व दूसरे भी रोवें।

(५) वध—स्वयं अपने इन्द्रियादि प्राणोंका घात करना, या दूसरोंके प्राण लेना या ऐसा वर्ताव करना जिससे आप भी मरे व दूसरे भी मारे जावें।

(६) परिदेवन—ऐसा रुदन करना या रुला देना या आप व दूसरे दोनोंको रुलाना जिससे सुननेवालोंके भावमें दया होजावे व

व्यवहार करना, तथा संसारको बढानेका श्रद्धान रखना; नास्तिक भाव रखना ।

चारित्रगुणघातक 'चारित्रमोहनीय' कर्मबन्धके विशेषभाव ।

(१) क्रोध, मान, माया, लोभकी तीव्रता रखनी ।

(२) अपने व दूसरोंमे तीव्र कषाय भाव पैदा कर देना ।

(३) तपसी साधुओंके व्रतोंमें दूषण लगाना ।

(४) संक्लेश भावसे तप या व्रत करना ।

(५) सत्यधर्म आदिका हास्य करना, बहुत हंसी व बकवाद करना ।

(६) धर्मसे अरुचि रखकर खेल कूदमें मगन रहना ।

(७) दूसरोंमे पापमें रति व धर्मसे अरति उत्पन्न कर देना ।

(८) अपने व दूसरोंमें शोक भाव पैदा कर देना ।

(९) स्वयं भयभीत रहकर दूसरोंमें भय पैदा कर देना ।

(१०) शुभ कामोंसे ग्लानि करना ।

(११) कामविकारकी तीव्रता रखनी ।

नरकगतिमें रोक रखनेवाले 'नर्कआयुके' बंधके भाव ।

(१) प्राणीपीडाकारी अन्यायपूर्वक बहुत व्यापार व आरम्भ करना ।

(२) धर्मसे विमुख होकर संसारमें बहुत ममता व मूर्छा रखनी ।

(३) हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री रमण व विषयभोगके प्रति गृद्धभाव रखना ।

(४) दुष्ट रौद्र हिंसाकारी ध्यान रखना ।

तिर्यंचगतिमें रोकरखनेवाले 'तिर्यंच आयु' कर्मके बंधके विशेषभाव ।

(१) मायाचार करना, कुटिल परिणाम रखना, परको ठगना ।

नीच गोत्र, असाता वेदनीय कर्मका बंध होगा। जब शुभ भाव होगा तब शुभ आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र व सातावेदनीय कर्मका बन्ध होगा किंतु चार घातीय कर्मका बंध हरएक शुभ या अशुभ भाव आत्माके स्वाभाविक शुद्ध भावका घातक है। इसतरह हरएक प्राणी हरएक दशामें कभी सात प्रकार कभी आठ प्रकार कर्मोंका बंध किया करता है। अपने ही अशुद्ध भावोंसे दैवका स्वयं संचय होजाया करता है।

लेश्या । इन ही अशुभ व शुभ भावोंको बतानेके लिये जैन सिद्धांतमें लेश्या शब्द काममें लाया गया है जिसका अर्थ है "कर्मस्कन्धै. आत्मानं लिम्पति इति लेश्या", अथवा "लिप्यते प्राणी कर्मणा यया सा लेश्या" जिसके द्वारा आत्मा कर्मोंसे लिपे या बंधे या संसर्ग पाये वह लेश्या है। मन, वचन, या कायकी प्रवृत्तिको जो कषायसे रंगी हो या न रंगी हो लेश्या कहते है। कषायके उदयके छ भेद है—तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर, मदतम। इसलिये लेश्याके भी छ भेद है—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। काला, नीला, भूरा (कापोत), ये तीन रंग अशुभ भावोंके दृष्टांत है। अशुभतम कृष्ण, अशुभतर नील व अशुभ कापोत लेश्या है। पीत पद्म (लाल), शुक्ल ये तीन शुभ भावोंके दृष्टांत हैं। मन्दकषायरूप शुभ भाव पीत है। मंदतर कषाय शुभ भाव पद्म है, मन्दतम कषायभाव या कषाय रहित योग शुक्ल लेश्या है। इन लेश्याओंके भावोंको समझनेके लिये एक दृष्टांत प्रसिद्ध है। छः लेश्याके भावोंको रखनेवाले छ. आदमी एक वनमें आमके वृक्षको देखते है तब कृष्ण लेश्यावाला जडमूलसे वृक्षको काट-

कर आम लेना चाहता है। नील लेश्यावाला जड़ छोड़कर धड़से काटकर आम लेना चाहता है। कापोत लेश्यावाला बड़ी २ शाखाएं तोड़कर आम लेना चाहता है। पीत लेश्यावाला आमके गुच्छे तोड़ना चाहता है। पद्म लेश्यावाला पक्क आम ही तोड़ना चाहता है। शुक्ल लेश्यावाला नीचे गिरे हुए आमोंको ही खाना चाहता है।

हरएक बुद्धिमान प्राणी अपने भीतरके भावोंसे अपनी लेश्याका या अशुभ तथा शुभ भावोंका पता लगा सक्ता है।

आठ कर्मोंके उत्तर भेद।

भावोंके होनेमें बाहरी निमित्त प्रबल कारण पड़ते हैं, इसलिये उत्तम संगतिका विचार सदा करते रहना चाहिये। आठ कर्मोंके उत्तर भेद १४८ हैं। उनका जानना भी जरूरी है। ज्ञानावरण कर्मके ५, दर्शनावरण कर्मके ९, वेदनीयके २, मोहनीयके २८, आयु कर्मके ४, नाम कर्मके ९३, गोत्र कर्मके २, अंतरायके ५ कुल १४८ हैं।

५–ज्ञानावरणकी उत्तरप्रकृति।

(१) मतिज्ञानावरण—जिसके उदयसे मतिज्ञान (पांच इंद्रिय तथा मनसे होनेवाला सीधा ज्ञान) न होसके।

(२) श्रुतज्ञानावरण—जिसके उदयसे श्रुतज्ञान (मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थसे अन्य पदार्थका ज्ञान) न होसके।

(३) अवधिज्ञानावरण—जिसके उदयसे अवधिज्ञान (एक दिव्यज्ञान) न होसके।

(४) मनःपर्यय ज्ञानावरण—जिसके उदयसे मनःपर्यय ज्ञान (एक दिव्यज्ञान) न होसके।

९ नोकषाय—कुछ कषाय जो कषायके उदयके साथ काम करे।

१—हास्य—जिसके उदयसे हास्य प्रगट हो ।

२—रति – जिसके उदयसे इन्द्रियोंके विषयोंमे राग हो ।

३—अरति—जिसके उदयसे विषयोंमें अरुचि हो—द्वेष हो ।

४—क्रोध—जिसके उदयसे क्रोधभाव हो ।

५—भय—जिसके उदयसे उद्वेग या भय हो ।

६—जुगुप्सा—जिसके उदयसे दूसरेसे ग्लानि या घृणा हो ।

७—स्त्रीवेद—जिसके उदयसे स्त्री संबन्धी कामभाव हो ।

८—पुवेद—जिसके उदयसे पुरुष सम्बन्धी कामभाव हो ।

९- नपुंसकवेद—जिसके उदयसे स्त्री पुरुषके मिश्र कामभाव हो।

४—आयु कर्म—नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव इन चार गतियोंमें रोकनेवाले चार आयुकर्म है। एकेंद्रियसे पचेंद्रिय पशु तक तिर्यंच गतिमे हैं ।

९३—नामकर्म—

४—गति—जिसके उदयसे नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देवगतिमें जावे व वहांकी अवस्था प्राप्त करे ।

५—जाति—जिसके उदयसे एकसमान दशा हो । वे पांच हैं—एकेंद्रिय, द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौन्द्रिय, पंचेंद्रिय ।

५—शरीर—जिसके उदयसे शरीरकी रचना हो। पांच शरीरोंके योग्य वर्गणा ग्रहण हो। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण। मनुष्य, तिर्यंचोंका स्थूल शरीर औदारिक होता है । देव-नारकियोंका स्थूल शरीर वैक्रियिक होता है। आहारक दिव्य शरीर

योगियोंके बनता है। तैजस कार्मण दो सूक्ष्म शरीर सब संसारी प्राणियोंके होते हैं।

३–अङ्गोपांग—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक शरीरोंमें जिसके उदयसे अङ्ग व उपाङ्ग बनें।

४–निर्माण—जिसके उदयसे अङ्ग उपाङ्गोंके स्थान व प्रमाण बनें।

५–बंधन—जिसके उदयसे पांचों शरीरोंके पुद्गल परस्पर बंधें।

५–संघात—जिसके उदयसे पांचों शरीरोंके पुद्गल छिद्ररहित मिल जावें।

६–संस्थान—जिसके उदयसे शरीरोंका आकार बने। वे आकार छः प्रकार हैं—

समचतुरस्र संस्थान—शरीर सुडौल सांचेमें ढला जैसा हो।

न्यग्रोधपरिमंडल सं०—शरीर वटवृक्षके समान ऊपर बड़ा नीचे छोटा हो।

स्वाति सं०—शरीर सर्पके बिलके समान ऊपर छोटा नीचे बड़ा हो।

कुब्जक सं०—शरीर कुबड़ा हो, पीठ उठी हो।

वामन सं०—शरीर बौना व छोटा हो।

हुंडक सं०—शरीर बेडौल व खराब हो।

६–संहनन—जिनके उदयसे द्वेन्द्रियादि त्रस तिर्यंच व मानवोंके शरीरके भीतर हड्डीकी विशेषता हो। वे छ प्रकार हैं—

वज्रवृषभनाराच संहनन—वज्र (हीरोंके समान न भिदनेवाले नसोंके जाल कीलें व हाड़ हों।

१-आदेय—जिसके उदयसे प्रभावान शरीर हो।

१-अनादेय—जिसके उदयसे प्रभारहित शरीर हो।

१ यशस्कीर्ति—जिसके उदयसे उत्तम गुणोंका यश फैले।

१-अयस्शकीर्ति—जिसके उदयसे सुयश न हो।

२-तीर्थंकर - जिसके उदयसे तीर्थंकर केवली हो।

जोड़ ९३-प्रकृति।

२-गोत्रकर्म।

१ उच्च गोत्र-जिसके उदयसे लोकपूजित कुलमें जन्म हो।

१ नीच गोत्र-जिसके उदयसे लोकनिन्द्य कुलमें जन्म हो।

५-अंतराय कर्म।

१ दानांतराय-जिसके उदयसे दान देना चाहे परन्तु दे न सके।

१ लाभांतराय-जिसके उदयसे लाभ होना चाहे परन्तु लाभ न कर सके।

१-भोगांतराय-जिसके उदयसे भोगना चाहे परन्तु भोग न कर सके।

१-उपभोगांतराय-जिसके उदयसे उपभोग करना चाहे परन्तु कर न सके।

१ वीर्यांतराय-जिसके उदयसे उत्साह करना चाहे परन्तु उत्साह न कर सके।

सर्व १४८ उत्तर प्रकृतिया है।

इनमेंसे ६८ पुण्य व १०० पाप प्रकृतिया हैं। वर्णादि २०को पुण्य पाप प्रकृति। पुण्य व पाप दोनोंमें गिनते हैं।

पुण्य प्रकृतियोंके नाम।

१ सातावेदनीय. ३ आयु—तिर्यंच. मनुष्य, देव, १ उच्च गोत्र।

६३ नामकर्मकी—मनुष्यगति मनुष्य, गत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्व्य। पंचेंद्रियजाति. पांच शरीर, पांच बंधन, पांच संघात, तीन अंगोपांग २० शुभ स्पर्शरसगन्धवर्ण, समचतुरस्रसंस्थान. वज्रवृषभनाराच संहनन, अगुरुलघु. परघात, उच्छ्वास, आतप उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस बादर, पर्याप्त. प्रत्येक शरीर. स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति. निर्माण, तीर्थंकर=६८।

२० वर्णादिके स्थानपर ४ गिननेसे व ५ बन्धन ५ संघातको ५ शरीरमें गर्भित करनेसे ६८—२६=४२ पुण्य प्रकृतियें होती है।

पाप प्रकृतियें—

४७ घातीय (५ ज्ञा० + ९ द० + २८ मो० + ५ अंतराय, नरकायु, असातावेदनीय, नीच गोत्र. ५ नामकर्मकी—नरक गति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय आदि चार जाति, न्यग्रोध परिमंडलादि पांच संस्थान. वज्रनाराचादि पांच सहनन, २० अशुभवर्णादि. उपघात. अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारण, अस्थिर, अशुभ. दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशः-कीर्ति=१००।

२० वर्णादिके स्थानपर ४ लेनेसे १००—१६=८४रहेंगी। ४७ घातीयमेंसे मिश्र मोहनीय, सम्यक्त मोहनीय दो घट जाएंगी। क्योंकि इनका बंध नहीं होता है। बन्ध मिथ्यात्व दर्शन मोहनीयका

ही होता है । सम्यक्त होनेपर मिथ्यात्वके तीन विभाग होते हैं । तब ८४—२=८२ पाप प्रकृति रह जायगी ।

चार प्रकारका बंध—

मूल बन्धके निमित्त कारण अशुद्ध आत्माके योग व कषायभाव हैं । इनहीसे चार प्रकारका बंध होता है—प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग ।

इन चारोंका बन्ध एक साथ होता है । कर्मवर्गणाएं कर्मबंधकी उपादान कारण हैं, उनमें ज्ञानावरणादि स्वभाव पडना प्रकृतिबन्ध है, हरएक प्रकृतिकी कितनी वर्गणाएं बन्धी संख्या पडना प्रदेशबन्ध है । वे बन्धे कर्म कबतक आत्माको बिलकुल न छोडेंगे उनकी मर्यादा पडना स्थितिबन्ध है । उनका फल तीव्र या मंद पडना अनुभागबन्ध है । जब काय, या वचन या मन तीनोंमेंसे कोई वर्तन करता है तब आत्माके प्रदेश सकंप होते हैं । इस सकम्पको द्रव्ययोग कहते हैं तब ही आत्माके भीतर आकर्षण शक्ति कर्म व नोकर्मवर्गणाओंको खींच लेती है, यह शक्ति भावयोग है ।

योगशक्ति प्रबल होनेसे बहुत अधिक कर्म व नोकर्मवर्गणाएं खिचेंगी । योगशक्ति निर्बल होनेसे थोडी नोकर्मवर्गणाएं खिचेंगी । सैनी पञ्चेन्द्रिय जैसे मानव आहारक, तैजस, कार्मण, भाषा, मन पांच प्रकार वर्गणाओंको हर समय ग्रहण करता है । कार्मणवर्गणाको कर्म शेष चारको नोकर्म कहते हैं, योगोंकी विशेषतासे ही प्रकृति व प्रदेश-बन्ध होते हैं । कषायोंकी विशेषतासे स्थिति, अनुभागबन्ध होते हैं ।

स्थितिबन्धका नियम—तिर्यंच, मनुष्य, देव आयु इन तीन

पल्य असंख्यात वर्षोंका होता है उससे बहुत अधिक सागरके वर्ष हैं। ४८ मिनिटसे एक समय कम उत्कृष्ट व १ आवली, १ समयका जघन्य अन्तर्मुहूर्त होता है। आख पलक लगनेके समयसे कम समयको आवली कहते है। सैनी पंचेंद्रिय वलवान जीव तीव्रतम कषायसे आयु सिवाय सात कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति बाधता है, जबकि वही जीव अति मन्दतम कषायसे उनकी जघन्य स्थिति बाधता है।

एकेंद्रियादि जीवोंकी अपेक्षा स्थिति बन्धका नियम यह है कि जब सैनी पंचेंद्रिय जीव ७० कोडाकोडी स्थिति बाधेगा तब उसी दर्शन मोहनीय कर्मकी असैनी पंचेंद्रिय १००० सागर, चौन्द्रिय जीव १०० सागर, तेन्द्रिय जीव ५० सागर, द्वेन्द्रिय जीव २५ सागर, एकेंद्रिय जीव—१ एक सागर स्थिति बाधेगा, इसी तरह सर्व कर्मोंकी स्थितिका नियम है। जैसे ज्ञानावरण कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति सैनी जीव ३० कोडाकोडी सागर बाधेगा। तब असैनी पचेंद्रिय ३०००/७ सागर, चौन्द्रिय जीव ३००/७ सागर, तेंद्रिय १५०/७ सागर, द्वेन्द्रिय ७५/७ सागर, एकेंद्रिय ३/७ सागर बाधेगा।

जिस कर्मकी जितनी स्थिति पडती है उस स्थितिके समयोंमें कर्मवर्गणाएं आबाधा काल (प्राचीनकाल) पीछे शेष समयोंमें हीन क्रमसे बंट जाती हैं वे यदि कुछ परिवर्तन हो तो उसी बटवारेके अनुसार समय समय गिरती जाती है। यदि बाहरी निमित्त अनुकूल होता हो तो फल प्रगट कर झडती हैं। अनुकूल निमित्त नहीं होता है तो विना फल प्रगट किये ही झड जाती है।

जैसे किसी कर्मका बंध होते हुए ६३०० वर्गणाएं बंध व

एकत्र करते हैं व स्वयं ही उन कर्मोंका फल दुःख सुख भोग लेते हैं। किसी ईश्वरके वीचमें पडनेकी जरूरत नहीं है। हम ही कर्मोंके कर्ता हैं व हम ही उनके फलके भोक्ता है। यह हमारा विभाव मय कार्य है, स्वभाव नहीं। स्वभावसे हम पुण्य पाप कर्मोंके न कर्ता हैं न उनके फलके भोक्ता हैं।

१४८ कर्म प्रकृतियां हम गिना चुके है, इनका बंध अधिक व कम संख्यामे नाना प्रकारके जीवोंके होता है। जैसा २ पुरुषार्थी जीव कषायोंका बल घटाकर वीतराग या शांत परिणामी होता जाता है वैसे वैसे कम संख्यामें कर्मप्रकृतिएं बंधती है।

चौदह गुणस्थान।

संसारी जीव चौदह श्रेणियों या दरजोंके द्वारा उन्नति करते हुए दैव या कर्मके वन्धसे छूटकर मुक्त या शुद्ध होते है। जैसे जैसे दरजा बढ़ता है, कषायकी कालस या मलीनता कम होती है वैसे वैसे कम संख्याकी कर्म प्रकृतियां बंधती है। किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियोंका वन्ध होता है, इस वातके जाननेके लिये इनका जानना जरूरी है। इन आत्मोन्नतिकी श्रेणियोंके नाम इस क्रमसे है—

(१) मिथ्यात्व, (२) सासादन, (३) मिश्र, (४) अविरत सम्यक्त, (५) देशविरत, (६) प्रमत्तविरत्त, (७) अप्रमत्तविरत्त, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिकरण, (१०) सूक्ष्मसापराय, (११) उपशांतमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगकेवली जिन, (१४) अयोगकेवली जिन।

इनमेंसे देव और नारकियोंमें पहले चार, तिर्यंचोंमे पहले पांच,

शुक्लध्यान रहता है। यहींपर दूसरा शुक्लध्यान होजाता है, जिसके प्रभावसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय तीन घातीय कर्मोंका नाश हो जाता है, तब चारों घातीयसे रहित होकर केवली अरहन्त हो सर्वज्ञ केवली जिन नाम पाता है।

(१३) **सयोगकेवली जिन**—अरहन्त परमात्मा होकर धर्मोपदेशका प्रकाश व विहार होता है। आत्मा सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी कहलाता है। अन्तमें तीसरा शुक्लध्यान होता है तब योग सूक्ष्म रहता है।

(१४) **अयोग केवली जिन**—योगरहित अरहन्त परमात्मा बहुत अल्प समयमे चौथे शुक्लध्यानके द्वारा शेष चार अघातीय कर्मोंका नाश करके मुक्त होकर सर्व शरीरोंसे रहित सिद्ध परमात्मा हो जाता है। गुणस्थानोंसे बाहर पूर्ण कृतकृत्य होजाता है।

आठवें गुणस्थानसे दो श्रेणिया है (१) उपशम श्रेणी जहां चारित्र मोहनीयका उपशम होता है, क्षय नहीं होता है। उसके गुण-स्थान चार हैं—आठ, नौ, दश, ग्यारह। उपशात मोहसे साधु फिर नीचे आता है, सातवें तक या और भी नीचे आ सक्ता है। क्योंकि अन्तर्मुहूर्त पीछे कषायका उदय होजाता है। (२) क्षपकश्रेणी जहा चारित्र मोहनीयका क्षय किया जाता है। जो इस श्रेणीपर चढता है वह उसी शरीरसे मुक्त होता है। उसके भी चार गुणस्थान हैं। आठ, नौ, दश, बारह। उस श्रेणीपर चढनेवाला ग्यारहको लांघ जाता है। क्षीणमोह होकर फिर केवली अरहन्त होजाता है।

गुणस्थानोंमें प्रकृति बन्ध—१४८ कर्म प्रकृतियोंमेसे, बंधके

कथन अनेक प्रकारके जीवोंका समुच्चयरूपसे है। एक जीव एक प्रकारके भावसे इतने कर्म नहीं बांधता है। आठों प्रकारके मूल कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियोंमें एकसाथ एकसमय बंधनेवाले समूहको स्थान कहते है। उनका कथन नीचे प्रकार है—

(१) ज्ञानावरणके ५ भेद हैं। पांचोंका एक स्थान है। पांचों ही प्रकृतियां एकसाथ दशवें गुणस्थान तक बराबर बंधती रहती हैं। —५ का स्थान १० वें तक।

(२) दर्शनावरणके ९ भेद है, इसके तीन स्थान हैं—९—६—४ नौका बंध दूसरे गुण० तक फिर स्त्यानगृद्धि निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला. तीन निद्रा कर्म विना छ का बंध अपूर्वकरणके प्रथम भाग तक फिर निद्रा प्रचला विना चारका ही बंध दसवें गुणस्थान-तक होगा। ९ का (२) तक ६ का ८ तक ४ का १० तक।

(३) वेदनीयके २ भेद हैं—एक समय साता वा असाता दोमेंसे १ यही बंध होता हैं। छठे गुण० तक कभी साता कभी असाताका फिर १ साताका ही बंध १३ वें गुणस्थान तक होता है।

साता या असाता (६) तक साता १३ तक।

(४) मोहनीय कर्मके बंधस्थान १० दश हैं। २२, २१, १७, १३, ९, ५, ४, ३, २, १।

(१) मिथ्यात्व गुण०मे २२ का स्थान ६ प्रकारसे बंधता है—१ मिथ्यात्व कर्म + १६ कषाय + भय + जुगुप्सा + हास्य रति या शोक अरति दो युगलमेंसे एकका + तीन वेदमेंसे १ का = २२ १ तीन वेद × २ शीलकी अपेक्षा वे छः प्रकार इस तरह होंगे (१)

मनुष्य सहित होगा । इस तरह २५ के बन्ध ६ प्रकार हैं ।

नं० (३) २६ का बंधस्थान । इसके दो प्रकार होंगे—

(१) ऊपर २५ मेंसे त्रस अपर्याप्त मनुष्यगति मनुष्यगत्यानुपूर्वी पंचेंद्रिय जाति संहनन अंगोपांग इन ७ को निकाल कर स्थावर पर्याप्त, तिर्यंचगति, तिर्यंगत्यानुपूर्वी, एकेंद्रिय उच्छ्वास, परघात, आतप इन आठके जोडनेसे २६का बंध होगा । एकेंद्रिय पर्याप्त आतप सहित होगा ।

(२) ऊपर २६ मेंसे आतप निकालनेसे व उद्योत बढानेसे २६ का बंधस्थान एकेंद्रिय पर्याप्त उद्योत सहित होगा ।

नं० (४) २८ का बंधस्थान । इसके २ प्रकार होंगे—

नं० १ प्रकार—देवगति सहित प्रकृतिएं, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, वर्णादि ४, त्रस बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर अस्थिरमेंसे एक, शुभ अशुभमेंसे एक, सुभग, आदेय, यश अयशमेंसे एक, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पंचेंद्रिय, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, प्रथम संस्थान, सुस्वर, प्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास, परघात ।

नं० २ प्रकार—९ पूर्वोक्त तैजस आदि, त्रस बादर, पर्याप्त प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्गम, अनादेय, अयश, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, हुंडक संस्थान, दुस्वर, अप्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास, परघात । इनका बन्ध नरकगति सहित होगा ।

नं० (५) २९ का बंध स्थान । इनके ६ प्रकार होंगे—

नं० १—नवपूर्वोक्त (२८) में की तैजस आदि, त्रस, बादर,

पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर अस्थिरमेंसे एक, शुभ अशुभमेंसे एक, दुर्भग, अनादेय, यश अयशमेंसे एक. तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, २ इन्द्रिय, औदारिक शरीर. औदारिक अंगोपाग, हुंडक संस्थान, असंप्राप्त० संहनन, दुस्वर, अप्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास, परघात, इनका बन्ध २ इन्द्रिय पर्याप्त सहित होगा।

नं० २ प्रकार—उपरोक्त प्रकारमेंसे २ इन्द्रिय निकाल कर तीन इन्द्रिय मिलानेसे २९ का बन्ध तीन इन्द्रिय पर्याप्त सहित होगा॥

नं० ३ प्रकार—उपरोक्त २९ मेंसे तीन इन्द्रिय निकालकर चौइन्द्रिय मिलानेसे २९ का बंध चौइन्द्रिय पर्याप्तके सहित होगा।

नं० ४ प्रकार—उपरोक्त २९ में चौइन्द्रिय निकालकर पंचेन्द्रिय मिलानेसे २९ का बंध पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच सहित बंध होगा परन्तु यहां विशेषता यह है कि स्थिर अस्थिरमेंसे एक, सुभग दुर्भगमेंसे एक, शुभ अशुभमेंसे एक, आदेय अनादेयमेंसे एक, यश अयशमेंसे एक, ६ संस्थानमेंसे एक, ६ संहननमेंसे एक, सुस्वर दुस्वरमेंसे एक. अप्रशस्त प्रशस्त विहायोगतिमेंसे एक, किसीका बन्ध किसी जीवके होगा।

नं० ५ प्रकार—उपर्युक्त २९ मेसे तिर्यंचगति, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी निकालकर मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी मिलानेसे २९ का बंध मनुष्यपर्याप्ति सहित होगा।

नं० ६ प्रकार—९ तैजस आदि त्रस, बादर, प्रत्येक, पर्याप्त, स्थिर अस्थिरमेंसे एक, शुभ अशुभमेसे एक, सुभग, आदेय, यश

नं० ५—देशविरत २८ देवसहित, २९ देव तीर्थ सहित ऐसे २ स्थान होंगे।

नं० ६—प्रमत्त २८ देवसहित, २९ देव तीर्थ सहित, ऐसे २ स्थान होंगे।

नं० ७—अप्रमत्त २८ देवसहित, २९ देव तीर्थ सहित, ३० आहारक सहित, ३१ आहारक तीर्थ सहित ऐसे ४ स्थान होंगे।

नं० ८—अपूर्वकरण ७ वेंके ४ बंधस्थान तथा एक यश ऐसे ५ बन्धस्थान होंगे।

नं० ९ अनिवृत्तिकरण एक यशका स्थान होगा।

नं० १० सूक्ष्मसांपराय यशका एक स्थान होगा।

नं० ७ गोत्रकर्म—इसके दो भेद हैं–१ नीच गोत्र, २ उच्च गोत्र। एक जीव एक समयमें दोमेंसे एक स्थान कोई बांधेगा।

नं० ८ अन्तरायकर्म—इसके ५ भेद हैं–५ प्रकृतिका स्थान मिथ्यात्व गुणस्थानसे १० वें गुणस्थान तक बन्ध होगा। इस तरह ८ कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंके बन्धस्थान जानने योग्य है। नीचे यह नकशा दिया जाता है जिससे विदित होगा कि १५ बन्ध योग्य प्रकृतिमेंसे हरएक गुणस्थानमें एक जीव एक समय कितनी प्रकृतियोंका बन्ध करेगा—

गुण० न०	ज्ञा०	दर्श०	वेद०	मोह०	आयु	नामकर्म	गोत्र	अन्त०	जोड़
१	५	९	१	२२	१	२३–२५–२६–२८–२९–३०	१	५	६७–६९–७०–७१–७३ ७४
२	५	९	१	२१	१	२८–२९–३०	१	५	७१–७२–७३
३	५	६	१	१७	०	२८–२९	१	५	६३–६४
४	५	६	१	१७	१	२८–२९–३०	१	५	६४–६५–६६
५	५	६	१	१३	१	२८–२९	१	५	६०–६१
६	५	६	१	९	१	२८–२९	१	५	५६–५७
७	५	६	१	९	१	२८–२९–३०–३१	१	५	५६–५७–५८–५९
८	५	६ ४	१	९	०	२८–२९–३०=३१–१	१	५	५५–५६–५७–५८–२६
९	५	४	१	१ सूक्ष्मलोभ	०	१	१	५	२२–२१–२०–१९–१८
१०	५	४	१	०	०	१	१	५	१७
११	०	०	१	०	०	०	१	०	१
१२	०	०	१	०	०	०	१	०	१
१३	०	०	१	०	०	०	१	०	१

६	प्रमत्त	५	आहारक शरीर, आहारक अंगोपाग, स्त्यानगृद्धि निद्रा निद्रा, प्रचला, प्रचला
७	अप्रमत्त	४	सम्यक्त्व प्र०, अर्धनाराच, कीलित, सृपाटिका संहनन
८	अपूर्वकरण	६	हास्य, रति. अरति, शोक, भय. जुगुप्सा,
९	अनिवृत्तिकरण	६	स्त्री, पुरुष, नपुंसकवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया
१०	सूक्ष्मसांपराय	१	संज्वलन लोभ
११	उपशांत मोह	२	वज्रनाराच, नाराच संहनन
१२	क्षीणमोह	१६	निद्रा, प्रचला, ज्ञानावरण ५. दर्शनावरण ४, अन्तराय ५
१३	सयोग केवलि	२९	वज्रवृषभ नाराच संहनन, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुस्वर, प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपाग, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, ६ संस्थान, ४ वर्णादि, अगुरुलघु, उपघात, परघात. उच्छ्वास, प्रत्येक शरीर
१४	अयोग केवलि	१३	वेदनीय २, मनुष्यगति, मनुष्यायु, पंचेन्द्री, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यश, तीर्थंकर, उच्च गोत्र

१२२

नीचे अब यह बताते हैं कि किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियोंका उदय होता है तथा १२८ मेंसे किसका उदय नहीं होता है। अर्थात् अनुदय होता है—और कितनेकी व्युच्छित्ति होती है।

गुणस्थान	अनुदय प्रकृति संख्या	उदय प्रकृति संख्या	उदय व्युच्छित्ति संख्या	विवरण
मिथ्यात्व	५	११७	५	अनुदय ५=तीर्थंकर, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, मिश्र, सम्यक्त
सासादन	११	१११	९	११=१०+नरकगत्यानुपूर्वी
मिश्र	२२	१००	१	२२=२०+तिर्यंच मनुष्य देव-गत्यानु० २३-१ मिश्र=२२
अविरति	१८	१०४	१७	१८=२३-४ गत्यानुपूर्वी १ सम्यक्त=१८
देशविरति	३५	८७	८	
प्रमत्त	४१	८१	५	४१=४३-आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग
अप्रमत्त	४६	७६	४	
अपूर्वकरण	५०	७२	६	
अनिवृत्ति	५६	६६	६	
सूक्ष्म सा०	६२	६०	१	
उपशांत मोह	६३	५९	२	
क्षीणमोह	६५	५७	१६	
सयोग केवली	८०	४२	३०	८०=८१-१ कोई वेदनीय ३०=२९+१ कोई वेदनीय
अयोग केवलि	११०	१२	१२	

नोट—दो वेदनीयमेंसे १ सयोगी गुण०में व्युच्छिन्न होजायगी बाकी १ रहनेसे १२ व्युच्छिन्न होंगी। पहले नकशेमें १३ नाना जीवोंकी अपेक्षा है।

होसकता है, या भयका अकेले या जुगुप्साका अकेले उदय होसक्ता है अथवा जुगुप्सा भय दोनोंका किसी जीवके उदय नहीं होसक्ता।

नं० १–मिथ्यात्व गुणस्थानमें ४ उदयस्थान होंगे। १०–९–९–८।

नं० १ (१० का) मिथ्यात्व प्रकृति	१
४ अनंतानुबंधी आदि क्रोध या मान या माया या लोभ	४
३ वेदमेंसे १ वेद	१
हास्य रति युगल या शोक अरति युगलमेंसे	२
भय जुगुप्सा	२
	१०
नं० २—(९ का) उपर्युक्त १० मेंसे जुगुप्सा विना	९
नं० ३—उपर्युक्त १० मेसे भय विना	९
नं ४—उपर्युक्त १० मेंसे भय जुगुप्सा दोनों विना	८

२ सासादन गुणस्थान—यहां मिथ्यात्वका उदय न होगा, उदयस्थान ४ होंगे।   ९–८–८–७

नं० १—४ अनंतानुबंधी आदि क्रोध या मान या माया या लोभ	४
३ वेदमेंसे १ वेद	१
हास्य रति या शोक अरतिमेंसे	२
भय जुगुप्सा	२
	९
नं० २—उपर्युक्त ९ में जुगुप्सा विना	८

नं० ३ उपर्युक्त ९ में भय विना ८

नं० ४ „ ९ में भय जुगुप्सा विना ७

३ मिश्र गुणस्थान—यहां मिश्र दर्शनमोहका उदय होगा, अनंतानुवन्धी कषायका उदय न होगा, उदय स्थान ४ होंगे। ९–८–८–७।

नं० १—मिश्र प्रकृति १

नं० ३—अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन क्रोध या मान या माया या लोभ ३

३ वेदोंमेंसे वेद १

हास्य रति या शोक अरतिमेसे २

भय जुगुप्सा २

९

नं० २—उपर्युक्त ९ में जुगुप्सा विना ८

नं० ३— „ ९ में भय विना ८

नं० ४— „ ९ में भय जुगुप्सा विना ७

४ अविरति सम्यक्त—यहा वेदक सम्यक्त्व सहित जीवके सम्यक्त मोहनीका उदय होगा, इस अपेक्षा ४ उदयस्थान होंगे। ९–८–८–७

नं० १—सम्यक्त प्रकृति १

३ अप्रत्याख्यानादि क्रोध, मान, माया या लोभ ३

३ वेदमेसे १

हास्य रति या शोक अरतिमेसे एक २

भय जुगुप्सामेंसे २

९

नं० २ उपर्युक्त ६ में जुगुप्सा विना ५

नं० ३— „ ६ में भय विना ५

नं० ४— „ ६ में भय जुगुप्सा विना ४

९ अनिवृत्तिकरण—इसके प्रथम भागमें हास्यादि ६ नोकषायका उदय न होगा, उदयस्थान १–२ प्रकृतिका होगा ।

नं० १—संज्वलन क्रोध, मान, माया या लोभ १

३ वेदमेंसे १

२

दूसरे भागमे वेदका उदय नहीं तब एकका उदयस्थान होगा ।

सज्वलन क्रोध, मान, माया या लोभ १

३ रे भागमें क्रोधका उदय न होगा १ का उदयस्थान होगा।

संज्वलन मान, माया या लोभ १

४ थे भागमें मानका उदय न होगा, १ का उदयस्थान होगा।

संज्वलन माया या लोभ १

५ वें भागमें मायाका उदय न होगा, मात्र १ उदयस्थान लोभका होगा १

१० सूक्ष्मलोभ गुण०—यहां १ सूक्ष्म लोभका उदय होनेसे १ उदयस्थान होगा ।

इसतरह मोहनीय कर्मके उदयस्थान १०–९–८–७–६–५–४–२–१ ऐसे ९ होंगे ।

विशेष—किसी सादि मिथ्यादृष्टि जीवके अनंतानुबन्धी कषायका उदय नहीं होता । अत. १ प्रकृति घटाकर मिथ्यात्व गुणस्थानमें ४ उदयस्थान ९–०–८–७ के होंगे ।

५ वां आयुकर्म—इस कर्मका एक ही उदयस्थान एक किसी आयुका होता है जिसको वह जीव नरक तिर्यंच मनुष्य वा देवगतिमें भोग रहा है।

६ ठा नामकर्म—इसके उदयस्थान १२ होते हैं।

२०, २१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ९, ८ प्रकृतियोंके होते है। इनका विवरण नीचे लिखे प्रकार है—

नं० (१) २० का उदयस्थान—

१२ प्रकृति ध्रुव उदय कहाती है जो सबके उदयमे रहती हैं वे ये है—तैजस शरीर, कार्माण शरीर, वर्णादि ४, अगुरुलघु, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ १२

इन १२ मे ४ गतिमेंसे १, ५ गतिमेंसे १, त्रस स्थावरमेंसे १, बादर सूक्ष्ममेंसे १, पर्याप्त अपर्याप्तमेंसे १, सुभग दुर्भगमेंसे १, आदेय अनादेयमेंसे १, यश अयशमेंसे एक। इन ८ को मिलानेसे २० का उदय १३ वें गुणस्थानमें सामान्य समुद्घात केवलीको कार्माण योगमें होता है।

नं० (२) २१ का उदयस्थान—इसके २ प्रकार है—

नं० (१) प्रकार—उपर्युक्त २०में ४ गत्यानुपूर्वीमेंसे कोई १ मिलानेसे २१ का उदय विग्रहगतिमे मोडा लेकर एक शरीरको छोडकर दूसरे शरीरमें जाते हुये १—२ या ३ समय रहता है।

नं० (२) प्रकार—उपर्युक्त २० में तीर्थंकर प्रकृति जोडनेसे २१ का उदय १३ वें गुणस्थानमें समुद्घात तीर्थंकर केवली के योगमें होता है।

उच्छ्वास इन ५ को जोड़नेसे २८ का उदय ६ ठे गुणस्थानमें आहारक शरीरधारी मुनियोंके होता है ।

नं० ३ प्रकार—ऊपर २४ मेंसे औदारिक शरीरको निकाल-कर वैक्रियक शरीर, वैक्रियक अंगोपाग, परघात, एक कोई विहायोगति, व उच्छ्वास इन ५ को जोडनेसे २८ का उदय देव या नारकियोंके होता है ।

नं० (८) २९ का उदयस्थान—

इसके प्रकार ६ हैं—

नं० १ प्रकार—सामान्य मनुष्यके २८ में या समुद्घात सामान्य केवलीके २८ में उच्छ्वास प्रकृति जोडनेसे २९ का उदय इन्हींके होता है ।

नं० २ प्रकार—ऊपर २४ में औदारिक अंगोपाग, १ कोई संहनन परघात व एक विहायोगति, तथा उद्योत इस तरह ५ प्रकृति जोडनेसे २९ का उदय दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेंद्रियके होता है ।

नं० ३ प्रकार—इन्हीं २९ मेंसे उद्योत निकाल कर तीन उच्छ्वास जोडनेसे २९ का उदय दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरि-न्द्रिय, पंचेन्द्रियके होता है ।

नं० ४ प्रकार—ऊपर २४ में औदारिक अंगोपांग, प्रथम संहनन, परघात, प्रशस्त विहायोगति, तीर्थंकर इन ५ को जोडनेसे २९ का उदय समुद्घात तीर्थंकर केवलीके होता है ।

गुण० नं०	ज्ञा०	दर्श०	वेद०	मोहनीय कर्म	आयु	नाम	गोत्र	अन्त०
१	५	४/५	१	१०-९-८-७	१	२१-२४-२५-२६-२७-२८-२९-३० ३१	१	५
२	५	४/५	१	९-८-७	१	२१-२४-२५-२६ २९-३०-३१	१	५
३	५	४/५	१	९-८-७	१	२९-३०-३१	१	५
४	५	४/५	१	९-८-७-६	१	२१-२५-२६-२७-२८-२९-३०-३१	१	५
५	५	४/५	१	८-७-६-५	१	३०-३१	१	५
६	५	४/५	१	७-६-५-४	१	२५-२७-२८-२९-३०	१	५
७	५	४/५	१	७-६-५-४	१	३०	१	५
८	५	४/५	१	६-५-४	१	३०	१	५
९	५	४/५	१	२-१	१	३०	१	५
१०	५	४/५	१	१	१	३०	१	५
११	५	४/५	१	०	१	३०	१	५
१२	५	४/५	१	०	१	३०	१	५
१३	०	०	१	०	१	२०-२१-२६-२७-२८-२९-३०-३१	१	०
१४	०	०	१	०	१	८-९	१	०

८–कर्मोंकी सत्ता अथवा उनका सत्व।

सब जगह गुणस्थानोंमें किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियोंका असत्व, सत्व, सत्व व्युच्छित्ति होती है उसका विवरण निम्नप्रकार है:—

	असत्व	सत्व	सत्व व्यु०	
१ मिथ्यात्व	०	१४८	०	
२ सासादन	३	१४५	०	३=आहारक द्विक, तीर्थंकर। इनकी सत्तावाला सासादनमें नहीं जाता।
३ मिश्र	१	१४७	०	१=तीर्थंकर। तीर्थंकर प्रकृतिके सत्ववाला इस गुणस्थानमें नहीं जाता।
४ असंयत	०	१४८	१	१=नरकायु।
५ देशसंयत	१	१४७	१	१=असत्व=नरकायु। यहां १ व्यु०=तिर्यञ्चायु।
६ प्रमत्त	२	१४६	०	२=नरकायु, तिर्यञ्चायु। इनकी सत्तावाला प्रमत्तमें नहीं जावेगा।
७ अप्रमत्त	२	१४६	८	८=४ अनंतानुबंधी, ३ दर्शनमोहनीय, १ देवायु। यह कथन क्षपक श्रेणीकी अपेक्षा क्षायिक सम्यक्त्व ४ से ७ वें तक होसकता है, ७ प्रकृतिकी सत्ता ४ थेसे ७ वें तक नहीं रहेगी।
८ अपूर्वकरण क्षपक	१०	१३८	०	१०=४ अनंतानुबंधी, ३ दर्शनमोहनीय, ३ नरक तिर्यंच देवायु।
९ अनिवृत्तिकरण क्ष०	१०	१३८	३६	३६=नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चगति तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी. ३ विकलत्रय, ३ स्त्यानगृद्धि आदि निद्रा, उद्योत, आतप, एकेन्द्री, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर, ४ अप्रत्याख्यान, ४ प्रत्याख्यानके साथ ६ हास्यादि, ३ वेद, संज्वलन क्रोध, माया, मान।
१० सूक्ष्म क्ष०	४६	१०२	१	१=संज्वलन लोभ।
१२ क्षीणमोह	४७	१०१	१६	१६=५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय, निद्रा प्रचला।

क्षीणकषायके अन्तिम समयतक रहेगी। इस तरह ३ सत्वस्थान होंगे– ९, ६, ४।

३ वेदनीय कर्म—इसके २ भेद है। दोनोंकी सत्ता १ लेसे १४ वें गुणस्थान तक रहेगी।

४ मोहनीय कर्म—इसके सत्वस्थान १५ है—

नं० १–सर्व २८, नं० २–सम्यक्त प्रकृति विना २७ नं० ३–सम्यक्त और मिश्र विना २६. नं० ४–२८ मे ४ अनंतानुबंधी कषाय विना २४, नं० ५–२४ मे मिथ्यात्वके क्षयसे २३, नं० ६–२३ में से मिश्र कर्मके क्षयसे २२, नं० ७–२२ मे सम्यक्त-प्रकृतिके क्षयसे २१, नं० ८–२१ मे ४ अप्रत्याख्यान और ४ प्रत्याख्यान कषायके क्षयसे १३, न० ९–१३ मे नपुंनकवेद या स्त्री वेदके क्षयसे १२, नं० १०–१२ मे नपुंसकवेद या स्त्री वेदके क्षयो० ११, नं० ११–११ मे हास्यादि ६ नोकषायके क्षयसे ५, नं० १२–५ वें पुंवेदके क्षयसे ४. नं० १३–४ में क्रोधके क्षयसे ३, नं० १४–३ मे मानके क्षयसे २, नं० १५–२ मे मायाके क्षयसे १ लोभ, इसतरह कुल १५ सत्वस्थान होंगे।

गुणस्थानोंकी अपेक्षा इनका विवरण इसप्रकार जानना योग्य है–

गुणस्थान सत्वस्थानकी प्रकृतियोंकी संख्या।

मिथ्यात्व—२८, २७, २६

सासादन—२८

मिश्र—२८, २४

अविरत—२८, २४, २३, २२, २१

देशविरत—२८, २४, २३, २२, २१

प्रमत्त—२८, २४, २३, २२, २१

अप्रमत्त—२८, २४, २३, २२, २१

अपूर्वकरण उपशममें—२८, २४, २१, क्षपकमें—२१

अनिवृत्तिकरण उपशममें—२८, २४, २१

क्षपकमें—२१, १३, १२, ११, ५, ४, ३, २, १

सूक्ष्मसांपराय उपशममें—२८, २४, २१। क्षपकमें—१

उपशांतमोह—२८, २४, २१

५ आयुकर्म—भुज्यमान आयु और बद्धमान आयुकी अपेक्षा २ आयुकी सत्ता ७वें गुण थान तक होगी तथा ८–९–१०–११ उपशम श्रेणीमें भी २ की सत्ता रहेगी। फिर ८–९–१०–१२ क्षपकमें तथा १३–१४ गुणस्थानमें १ भुज्यमान आयुकी सत्ता रहेगी, अतः सत्वस्थान २ और १ के २ होंगे।

६ नामकर्म—इसके सत्वस्थान १३ हैं–९३, ९२, ९१, ९०, ८८, ८४, ८२, ८०, ७९, ७८, ७७, १०, ९ इनका विवरण नीचे प्रकार है–

नं० (१) ९३ नाम कर्मकी सर्व प्रकृति। नं० (२) ९२ तीर्थंकर विना सब। नं० (३) ९१=९३ वें आहारक द्विक विना। नं० (४) ९०=९३ में तीर्थंकर आहारक द्विक विना। नं० (५) ८८=९० में देवगति, देवगत्यानुपूर्वी विना। नं० (६) ८४=८८ में नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, वैक्रियक शरीर, वैक्रियक अंगोपांग

गुण० नं०	ज्ञा०	दर्श०	वेद०	मोहनीय कर्म	आयु	नाम	गोत्र	अन्त०
१	५	९	२	२८-२७-२६	२	९२-९१-९० ८८-८४-८२	२,१	५
२	५	९	२	२८	२	९०	२	५
३	५	९	२	२८-२४	२	९२-९०	२	५
४	५	९	२	२८-२४-२३-२२-२१	२	९३-९२-९१-९०	२	५
५	५	९	२	२८-२४-२३-२२-२१	२	९३-९२-९१-९०	२	५
६	५	९	२	२८-२४-२३-२२-२१	२	९३-९२-९१-९०	२	५
७	५	९	२	२८-२४-२३-२२-२१	२	९३-९२-९१-९०	२	५
८	५	९	२	२८-२४-२१	२	९३-९२-९१-९०	२	५
९	५	९,६	२	२८-२४-२१-१३-१२-११-५-४-३-२-१	२	९३-९२ ९१-९०-८०-७९-७८-७७	२	५
१०	५	६	२	२८-२४-२१-१	२	९३-९२-९१-९०-८०-७९-७८-७७	२	५
११	५	६	२	२८-२४-२१	२	९३-९२-९१-९०	२	५
१२	५	६,४	२	०	१	८०-७९-७८-७७	२	५
१३	०	०	२	०	१	८०-७९-७८-७७	२	०
१४	०	०	२,१	०	१	८०-७९-७८-७७-१०-९	२,१	०

इस तरह इस अध्यायमें यह भले प्रकार बतला दिया है कि दैव या कर्मोंका संचय या बन्ध इस संसारी जीवके अपने अशुद्ध भावोंसे होता है, किस किस गुणस्थान या दर्जेमें कितने कर्मोंका बंध उदय या सत्व होता है। इससे प्रगट होगा कि यह जीव ही अपने दैवको आप ही बनानेवाला है, और आप ही उसका फल भोक्ता है। और ये जीव ही अपने दैवको अपने पुरुषार्थसे बदल सक्ता है और नाश कर सक्ता है इस बातको आगे बताया जायेगा। कर्मोंका विशेष बंध उदय सत्वका वर्णन श्री गोम्मटसार कर्मकांडजी नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्र-वर्ति कृतसे जानना योग्य है, यहां तो दिग्दर्शन मात्र कराया है। जैन सिद्धान्तमें इस विषयका बहुत गम्भीर वर्णन है, ज्ञानके खोजियोंको उसका मनन करना चाहिये।

अध्याय चौथा ।

पुरुषार्थका स्वभाव और कार्य ।

यदि निश्चयनयसे विचार किया जावे तो हरएक पुरुष या आत्मा परम शुद्ध या निर्विकार है, अपने स्वभावका ही कर्ता है और अपने स्वाभाविक आनंदका भोक्ता है, इस दृष्टिमे न संसार है न पुण्य-पाप है, न मोक्ष है, न मोक्षका उपाय है, न दैव और पुरुषार्थका वर्णन है।

व्यवहारनयसे संसार और मोक्षका विचार किया जाता है उसी अपेक्षासे दैव और पुरुषार्थका कथन करना उचित है। पुरुषार्थका संक्षेप कथन पहिले अध्यायमे हम कर चुके है, यहा कुछ विस्तारसे लिखा जाता है।

हरएक संसारी जीवोंमें चाहे वह शुद्धसे शुद्ध क्यों न हो, जितनी जानने देखनेकी व आत्मबलकी शक्ति प्रगट है, वही उसका पुरुषार्थ है अर्थात् आत्माका प्रगट गुण है। इस पुरुषार्थसे मन रहित एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय तकके जीव अपनी आवश्यक्ताओंकी पूर्तिका उद्यम किया करते हैं इसको दैव या भाग्यकी खबर ही नहीं है।

इसी तरह मन सहित पचेन्द्रिय जीव भी अनेक हैं जो अपनी ज्ञान दर्शन व आत्मबलकी शक्तिसे अपनी इच्छाओंकी पूर्तिका सतत प्रयत्न किया करते हैं। ये भी दैवको नहीं समझते। इसप्रकार उद्यम करते हुये कभी सफल होते हैं कभी असफल। सफल होनेमें पुण्यकर्मका फल निमित्त कारण है, असफल होनेमें पापकर्मका फल निमित्त कारण है, इस बातको कर्म सिद्धान्तका ज्ञाता समझता है।

कहनेका प्रयोजन यह है कि चाहे कोई कर्मसिद्धान्तको जानता हो चाहे न जानता हो, हरएक प्राणीको निरन्तर पुरुषार्थी होना चाहिये। अपनी उचित आवश्यक्ताओंकी पूर्तिका यत्न करना ही चाहिये। दैवके भरोसे बैठ रहना मूर्खता है। प्रयत्नके विना दैव सहायी नहीं होसक्ता। पुरुषार्थ बड़ी वस्तु है, यह आत्माकी शक्तिका प्रकाश है, जितना जितना आत्माका यह गुण प्रगट होता जाता है, उतना उतना पुरुषार्थ करनेका साधन अधिक होता जाता है। पुरुषार्थमे यह शक्ति है कि संचित कर्मोंको बदल देवे और विनाश कर देवे। यह सब हम बता चुके हैं कि राग द्वेष मोहसे कर्मोंका बंध होता है तब इनके विरोधी वीतरागभावसे कर्मोंका नाश होता है। पुरुषार्थके द्वारा संचित कर्ममें नीचे लिखे प्रकार परिवर्तन होसक्ता है—

नं० १—संक्रमण—एक कर्मकी प्रकृतिका बदलकर दूसरी प्रकृतिरूप होजाना संक्रमण है। मूल ८ कर्मोंमें परस्पर संक्रमण नहीं होता, परन्तु हरएक मूलकर्मकी उत्तर प्रकृतियोंमें परस्पर संक्रमण हो सक्ता है। जैसे असातावेदनीयका सातामें, साताका असातामे, नीच गोत्रका उच्चमें, उच्चका नीच गोत्रमें क्रोध, मान, माया, लोभका परस्परमें, परन्तु दर्शन मोहनीयका, चारित्र मोहनीयरूप संक्रमण नहीं होता, न ४ प्रकारकी आयुका परस्पर संक्रमण होता है।

जीवोंके निर्मल भावोंके निमित्तसे पाप प्रकृति, पुण्य प्रकृतिमें पलट जाती है जब कि विशेष मलीन भावोंसे पुण्य प्रकृति पापरूप होजाती है। जैसे किसीने किसीको दुःख पहुंचाया तो असाताका बंध किया था पश्चात् उसने पश्चात्ताप किया और वीतरागभावकी भावना

भाई तब असाता कर्म सातामे पलट सकता है। किसीने किसीको दान देकर सातावेदनीयका बंध किया था, पीछे उसने अहंकार किया व ईर्षाकी व अपनी प्रशंसा गाई तो इस मलीन भावसे साताका असातामे संक्रमण हो सकता है।

नं० २ उत्कर्षण—पूर्व बाधे हुये कर्मोंमें स्थिति और अनुभागका बढ़ जाना उत्कर्षण है। जैसे किसीने दान देकर सातावेदनीयका बंध किया था। कुछ काल बाद उसके ऐसे भाव हुये कि ऐसा दान मै और भी करूं। दानसे ही लक्ष्मी सफल होती है। इस विशुद्ध भावसे उस सातावेदनीयका अनुभाग बढ़ जावेगा। ज्ञानावरणीय कर्मकी स्थिति जितनी बाधी थी उसके कुछ काल पीछे उस जीवके विशेष अशुभ भाव हुए जिससे ज्ञानमे अन्तराय पड़े तो इस मलीन भावसे ज्ञानावरणीय कर्मकी स्थिति बढ़ जायगी।

नं० ३ अपकर्षण—पूर्व बाधे हुए कर्मोंकी स्थिति व अनुभाग घट जाना अपकर्षण है। जैसे किसीने किसीको गाली देकर मोहनीय कर्मका स्थिति अनुभाग बंध किया था. पीछे उसने पश्चात्ताप किया तब उस विशुद्ध भावके कारणसे उस कर्मकी स्थिति अनुभाग घट जावेगे। किसीने नरक आयु एक सागरकी स्थिति बाधी थी. कुछ काल बाद उसके कुछ विशुद्धभाव हुये तो नरक आयुकी स्थिति घटकर १००० वर्ष तककी रह सक्ती है।

नं० ४ उदीरणा—जिन कर्मोंकी स्थिति अधिक है उस स्थितिको घटाकर कर्मोंको जल्दी उदयमे लाकर फल नहीं भोगनेको उदीरणा कहते हैं। जैसे किसीको तीव्र क्षुधाकी बाधा होरही है उस-

जब प्राप्त होजाता है तब ये आत्मतत्वके मननके अभ्यासका पुरुषार्थ करता है।

पुरुषार्थ करते करते जब अनतानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्वका उदय उपशम होजाता है अर्थात् दब जाता है तब उपशम सम्यक्त प्राप्त होजाता है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त है पीछे छूट भी सकता है व क्षयोपशम सम्यक्तमे बदल सक्ता है. छूटनेपर भी पुन ये प्राप्त होजाता है। इस सम्यक्तके होते हुये मोक्षपुरुषार्थकी कुंजी हाथ आ जाती है। ये उपशम सम्यक्त चौथे गुणस्थानसे ११ वें तक रह सक्ता है। ७ वे गुणस्थानमे क्षयोपशम सम्यक्तसे जो उपशम सम्यक्त होता है उसको द्वितीयोपशम कहते हैं।

उपशम चारित्र—चारित्रमोहनीय कर्मके उपशमसे प्रगट होता है। उपशम श्रेणीके ८ वे ९ वें १० वें ११ वें गुणस्थानमें वह रहता है। इसकी स्थिति भी अंतर्मुहूर्त है। ११ वेंसे गिरकर नीचे ७ वें तक आ जाता है। जब कषायका उदय हो जाता है तो उपशम चारित्र नहीं रहता। आठों कर्मोंमेसे मुख्यतासे मोहनीय कर्ममें उपशम भाव होता है।

२ क्षयोपशमिक भाव—ये १८ प्रकारका होता है —

४ ज्ञान—मतिज्ञान श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यय ज्ञान। ३ अज्ञान—कुमति कुश्रुति, कुअवधिमिथ्यात्व सहित ज्ञानको कुज्ञान कहते है, सम्यक्त सहितको ज्ञान कहते है। साधारण जीवोंको कुमति कुश्रुति दो ज्ञान होते है। इन्हीं दोनो ज्ञानोंके पुरुषार्थ करनेसे जब सम्यग्दर्शनका उदय होता है तब वे ही ज्ञान मति व श्रुत होजाते है,